नई समाजवादी क्रान्ति का उद्‌घोषक

बिगुल

मासिक समाचार पत्र • वर्ष 1 अंक 8
सितम्बर 1999 • तीन रुपये • बारह पृष्ठ

विशेष सम्पादकीय अग्रलेख

पूंजीवादी चुनाव और पूंजीवादी संसदीय प्रणाली के सारे छल-छद्‌म उजागर हो चुके हैं!

जरूरी है कि जनता के सामने क्रान्तिकारी विकल्प का खाका पेश किया जाये

अभी दो वर्षों पहले आजादी की स्वर्णजयन्ती मनाई गई थी। अगले वर्ष, नई शताब्दी की शुरुआत के साथ ही भारत को संवैधानिक तौर पर "सम्प्रभु जनतांत्रिक गणराज्य" बने हुए भी पचास वर्ष बीत जायेंगे। एकबार फिर नक्कारे बजाये जायेंगे (और गाल भी!) और यह बताया जायेगा कि "दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र" आज भी जीवित है और सेहतमन्द भी है।

इस सदी के आखिरी चुनावों की प्रक्रिया जारी है। पूंजीवादी राजनीति का यह बेहद खर्चीला पांच साला जलसा अब सालाना बन चुका है। और अरबों का यह खर्च आम जनता को अपनी रोटी की कीमत पर जुटाना है। जुटाना ही होगा! "दुनिया के सबसे बड़े जनतंत्र" की जनता जो है!

बिगुल का यह देरी से निकलने वाला अंक पाठकों के हाथों में पहुंचने तक मतदान का आखिरी दौर समाप्त हो चुका रहेगा और नतीजों की प्रतीक्षा रहेगी। वैसे यह प्रतीक्षा पूंजीपतियों, व्यापारियों, सत्ता के दलालों और सटोरियों को ही अधिक है। आम जनता यह अच्छी तरह से समझती है कि चाहे जो भी दल या गठबंधन सत्ता में आये, हालात में कोई बुनियादी तबदीली नहीं आनी है। अन्धराष्ट्रवादी नारे, स्थिरता का भरोसा, नेहरू-गांधी वंश परम्परा की दुहाई या स्वदेशी-विदेशी का मसला— ये सभी मध्य वर्ग के उन हिस्सों को ही आकृष्ट कर रहे हैं जिनके लिए मंहगाई या बेरोजगारी अभी अस्तित्व का सवाल नहीं बनी है। शहरी सर्वहारा वर्ग संसदीय राजनीति से, यहां तक कि संसदीय वामपंथियों से भी विमुख है। वह या तो किसी दबाव, लिहाज या फौरी प्रलोभन में वोट दे आता है, या फिर जाता ही नहीं। गांव के गरीबों की भी यही स्थिति है। वे गांव की गुटबन्दियों और जातिगत घड़ेबन्दियों के दबावों के चलते इस या उस पार्टी को वोट दे आते हैं। इस स्थिति के बावजूद, और बड़े पैमाने पर फर्जी मतदान के बावजूद, विगत कुछ चुनावों से बमुश्किल तमाम औसतन 50 प्रतिशत ही मतदान हो रहा है। तमाम उम्मीदवारों में मतों के बंटवारे के बाद, कुल डाले गये मतों में से 30-35 प्रतिशत मत पाने वाला उम्मीदवार ही प्रायः विजयी हो जाता है। **जाहिर है कि पूंजीवादी जनवाद के इस चुनावी खेल में, विजयी उम्मीदवार, गणित के सीधे हिसाब से भी जनता की बहुसंख्या का प्रतिनिधित्व नहीं करता।**

> **क्रान्तिकारियों के सामने हम कुछ ठोस कार्यभार प्रस्तुत कर रहे हैं !**
>
> **मेहनतकश अवाम के सामने हम कुछ व्यावहारिक नारे प्रस्तुत कर रहे हैं !**

और सवाल मत-प्रतिशत के सीधे-सादे गणित का है भी नहीं। बुनियादी बात यह है कि किसी भी पूंजीवादी संसदीय चुनाव में बहुसंख्यक जनता को अपना विकल्प चुनने का अधिकार ही नहीं होता! उसे थैलीशाहों के प्यादों में से ही किसी एक पर ठप्पा मारना होता है। आधुनिक विश्व के इतिहास में, अपवादस्वरूप, यदि कहीं कोई क्रान्तिकारी या 'रैडिकल' शक्ति चुनाव के द्वारा सत्तासीन हो भी गई तो या तो थैलीशाहों ने उसे सेना और साम्राज्यवादी मदद के बूते उखाड़ फेंका, या फिर उस नई सत्ता का ही चरित्र बदल गया और उसने स्वयं को पूंजीवादी जनवाद की चौहद्दियों के हिसाब से ढाल लिया।

लेनिन ने इस सदी की शुरुआत में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि **"वर्तमान काल में साम्राज्यवाद और बैंकों के प्रभुत्व ने किसी भी जनवादी जनतंत्र में धन की सर्वशक्तिमत्ता की रक्षा करने तथा उसे जीवन में लागू करने के इन दोनों तरीकों को असाधारण कला में "विकसित कर दिया है"** (*राज्य और क्रान्ति*)। उन्होंने दो टूक शब्दों में यह भी कहा था : **"केवल संसदीय संविधानिक राजतंत्रों में ही नहीं, बल्कि अधिक से अधिक जनवादी जनतंत्रों में भी बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था का सच्चा सार कुछ वर्षों पर एक बार यह फैसला करना ही है कि शासक वर्ग का कौन सा सदस्य संसद में जनता का दमन और उत्पीड़न करेगा"** (स्रोत : वही)

(पेज 6 पर जारी)

श्रीराम होण्डा के मजदूर आन्दोलन की राह पर

रुद्रपुर, 21 सितम्बर (**बिगुल प्रतिनिधि**)। प्रबन्धकों के अड़ियल रुख, श्रम विभाग के टालू रवैये और प्रशासन की अकर्मण्यता के कारण 'होण्डा पावर प्रोडक्ट्स' के मजदूर पिछले लगभग तीन माह से ऊहापोह की स्थिति में हैं। श्रमिकों की 18 सूत्रीय जायज मांगों पर विचार करने की जगह प्रबन्धतन्त्र उत्पादन बढ़ाने की रट लगाये हुए है। बेवजह मजदूरों को डराया धमकाया जा रहा है, नौकरी से निकाले जाने की धमकी दी जा रही है और नोटिसें थमाई जा रही हैं।

पिछले एक जुलाई से लागू होने वाले त्रिवर्षीय वेतन समझौते के लिये उप श्रमायुक्त की मध्यस्थता में सम्पन्न कई दौर की बैठकों से भी कोई हल न निकल पाने से क्षुब्ध श्रमिकों ने पिछले 9 सितम्बर से 4 घण्टे की टूल डाउन हड़ताल शुरू कर दी है।

उल्लेखनीय है कि '**श्रीराम होण्डा श्रमिक संगठन**' ने एक जुलाई से नये समझौते के लिए अपना 18 सूत्री मांग पत्रक 7 जून को ही प्रबन्धकों को सौंप दिया था। प्रबन्धकों द्वारा मांगों पर विचार करने की जगह उत्पादन बढ़ाने के हठ और मजदूरों को आतंकित करने के लिए जारी कारण बताओ नोटिसों से क्षुब्ध यूनियन ने प्रबन्धकों को 20 अगस्त से बेमियादी हड़ताल पर जाने का नोटिस 8 अगस्त को दिया। लेकिन उपश्रमायुक्त के आश्वासन पर मजदूर बेमियादी हड़ताल पर जाने की जगह धैर्यपूर्वक न्यायोचित समाधान की प्रतीक्षा करते रहे। अन्ततः विफल वार्ताओं के

(पेज 12 पर जारी)

पूर्वोत्तर रेलवे मुख्यालय में आर.पी.एफ जवानों का नंगनाच

रेल प्रशासन की निरंकुशशाही और डण्डाराज का एक ही जवाब : सभी ट्रेड और कैटेगरी के कर्मचारियों-मजदूरों की फौलादी एकजुटता

गोरखपुर (**बिगुल प्रतिनिधि**)। विगत 9 एवं 10 सितम्बर को रेलवे सुरक्षा बल (आर.पी.एफ) के जवानों व रंगरूटों द्वारा यहां पूर्वोत्तर रेलवे मुख्यालय में वित्त एवं लेखा विभाग के कर्मचारियों पर किये गए बर्बर लाठीचार्ज व हवाई फायरिंग की घटना रेल प्रशासन की बढ़ती निरंकुशशाही की अगली कड़ी है और यह रेलकर्मियों के भविष्य के लिए 'खतरनाक संकेत' है। इस खतरे की गम्भीरता को पहचानते हुए आम मजदूरों-कर्मचारियों को इसका कारगर जवाब देने की तैयारी करनी होगी। एक बार फिर, इस घटना ने गद्दार ट्रेडयूनियन नेताओं के असली चरित्र को आम मजदूरों-कर्मचारियों के बीच उघाड़कर रख दिया है। इस घटना ने यहां फिर साबित कर दिया है कि अब इन गद्दार ट्रेड यूनियन नेताओं को उखाड़ फैंकने और ट्रेड व कैटेगरी में बंटे कर्मचारियों-मजदूरों के बीच फौलादी एकजुटता कायम करते हुए ट्रेड यूनियन आन्दोलन को क्रान्तिकारी धार देने के लिए जागरूक मजदूरों-कर्मचारियों को पहल करनी होगी।

निर्ममता भरी यह घटना पूर्वोत्तर रेलवे मुख्यालय परिसर में महाप्रबन्धक कार्यालय के सामने 9 सितम्बर को उस समय शुरू हुई जब आर.पी.एफ. जवानों ने व्यवस्था कायम करने के नाम पर सड़क के किनारे खड़े कर्मचारियों के स्कूटरों व साइकिलों की हवा निकाल दी। कर्मचारियों ने इसका कारण जानना चाहा। इसी बात को लेकर दोनों पक्षों के बीच बहस हो गई। फिर क्या था। फिर क्या था। लाठियों-संगीनों से लैस आर.पी.एफ. की पलटन आयी और कार्यालय में घुसकर कर्मचारियों पर जमकर लाठियां बरसायीं।

(पेज 12 पर जारी)

भीतर के पृष्ठों पर

नोयडा एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन में स्त्री मजदूरों का बर्बर शोषण	3
लेनिन का लेख किसे लाभ होता है	4
पेरू में जारी लोकयुद्ध के नेता फेलिसियानो की गिरफ्तारी और दमन-चक्र का नया दौर	4
इस तरह बिना आग के धुआं उगलता है पूंजीवादी मीडिया	5
भगतसिंह और मजदूर आन्दोलन	5
बीमा उद्योग के निजीकरण के लिए काम लगातार जारी है	7
तराई क्षेत्र में मालिकान ने मजदूरों पर हमले तेज किये	10
स्वयंप्रकाश की कहानी नीलकांत का सफर	8
हरिहर ओझा के कुछ मुक्तक	9

आपस की बात

चाहे निजीकरण हो या पंचायती राज, नीतियों के मसले पर सभी पूंजीवादी पार्टियां एक हैं

बिगुल के अगस्त 1999 अंक में मुकुल श्रीवास्तव का विश्लेषणपरक लेख **''सत्ता के विकेन्द्रीकरण उर्फ जनतांत्रीकरण के ढोल की पोल''**, उत्तर प्रदेश की कल्याण सरकार के ''पंचायती राज'' की असलियत को बखूबी उजागर करता है। यहां हम इस बात को भी जोड़ना चाहेंगे कि सत्ता के ''विकेन्द्रीकरण'' का नारा सबसे पहले पी. वी. नरसिंहराव की कांग्रेसी सरकार ने उछाला था जिसे पहले मध्य प्रदेश की कांग्रेस सरकार ने और अब उत्तर प्रदेश की भाजपा सरकार ने अमली जामा पहनाने का काम किया है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण, और जनता को सत्ता देने के मोहक नारों की आड़ में पूंजी की आदमखोर सत्ता के निचले पायों को मजबूत बनाने के मसले पर सभी पूंजीवादी पार्टियां एकमत हैं।

नरसिंह राव एण्ड कम्पनी की कांग्रेसी सरकार ने 1993 में संविधान के 73 वें व 74 वें संशोधन के माध्यम से पंचायती राज का यह शगूफा उस वक्त छोड़ा था जब देश के शासक साम्राज्यवादियों से सांठ-गांठ करके नई आर्थिक नीतियों के जरिये मुल्क को आर्थिक नव औपनिवेशिक लूट का चरागाह बना चुके थे । भाजपा सरकार का कदम इसी की अगली कड़ी है।

उदारीकरण-निजीकरण की जिन नीतियों की, शुरुआत करके नरसिंह राव की कांग्रेसी सरकार ने मंहगाई, बेरोजगारी, बाधामुक्त विदेशी लूट , देशी मुनाफाखोरों को ज्यादा से ज्यादा छूट और तबाही-बर्बादी का सिलसिला शुरू किया था, उसे धर्मनिरपेक्षता एवं समाजवाद का नारा जपने वाले चुनावी वामपंथियों और तथाकथित ''तीसरी ताकतों'' ने भी आगे बढ़ाया और ''स्वदेशी'' की सुमिरनी फेरते हुए भाजपाई फासिस्टों ने तो हद दर्जे की बेशर्मी और दुरंगेपन के साथ इस काम को अंजाम दिया। धीरे-धीरे, आधी सदी की अधूरी आजादी और बीमार विकलांग पूंजीवादी जनतंत्र का काफिला आज इस मुकाम तक पहुंच चुका है कि ''समाजवादी'' मुलम्मे उतर चुके हैं, पूंजीवादी शोषण लूट, गिरहकटी और डाकेजनी की शक्ल अख्तियार कर चुका है। जनतंत्र की रामनामी चादर तार-तार हो रही है, फासीवादी ताकतों का उभार सम्पूर्ण दमनतंत्र की स्थापना का खतरा पैदा कर चुका है। ऐसे में ''जनता को सत्ता सौंपने'' का नारा धोखाधड़ी नहीं तो और क्या है ?

सोचिए, सत्ताधारियों द्वारा किया जाने वाला यह अश्लील मजाक नहीं तो और क्या है कि जिस देश का संविधान ही मेहनतकश जनता की खून-पसीने की कमाई पर खुली डाकेजनी को वैधानिक सुरक्षा प्रदान करता है, वहां पंचायतों को संवैधानिक दर्जा दे देने से सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो जायेगा और जनता के हाथों में सत्ता की बागडोर आ जायेगी । लूट, हत्या और अत्याचार का संवैधानिक कारोबार बदस्तूर जारी भी रहेगा और जनता को सत्ता भी मिल जोयगी । लाखों लोगों की नौकरियां छीन कर जनता को ''सत्ता सुख'' का अच्छा तमगा मिल रहा है । इससे बड़ा घिनौना पाखण्ड और क्या हो सकता है ।

हमारे शासक इस बात को बखूबी जानते हैं कि वे देशी-विदेशी लूट की जिन आम जनविरोधी नीतियों को लागू कर रहे हैं, उनकी बदौलत आने वाले दिनों में गांवों और शहरों में आबादी के आर्थिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया उस मुकाम तक पहुंच जाएगी कि सारे धुंधलके छंट जायेंगे और देश की आबादी दो विशाल शत्रु शिविरों में एक-दूसरे के आमने-सामने खड़ी होगी। एक ओर होगी इस देश के मुटठी भर परजीवी अमीरजादों की फौज और दूसरी होगी देश के गरीब मेहनतकशों की फौज। एक फौज लड़ेगी लूट के बुनियाद पर टिके अपने रंगमहलों की हिफाजत के लिए और दूसरी फौज लड़ेगी आदमी द्वारा आदमी के शोषण के सम्पूर्ण खात्मे के लिए और एक सुन्दर मानवीय समाज की रचना के लिए । इस देश के सत्ताधारियों को आने वाले समय में घटित होने वाला यह भीषण अंजाम दिखायी दे रहा है और इसे रोकने के एक उपाय के तौर पर अपने रक्षा कवचों को मजबूत बनाने की नीयत से भी वे पंचायती राज लागू कर रहे हैं।

लेकिन, रेत की दीवारें तूफानों का मुकाबला नहीं कर सकतीं । तूफान आयेगा और रेत की सारी दीवारें भी भहरा जायेंगी। जनता का इन्कलाबी तूफान। हमें इन्कलाब के इसी तूफान के लिए जनता को तैयार करना है। वह इन्कलाब जो पूंजीवादी लूट और शासन की समस्त मशीनरी को ध्वस्त करेगा। पूंजीवादी लूट को वैधता प्रदान करने वाले माजूदा खूनी संविधान की जगह श्रम की बुनियाद पर आधारित एक नये सुन्दर समाज के संविधान की रचना करेगा और हर स्तर पर आम जनता की वास्तविक भागीदारी पर आधारित एक राज्य-मशीनरी का निर्माण करेगा। केवल यह इन्कलाब ही जनता के हाथों मे सत्ता की बागडोर दे सकता है— क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य की स्थापना से ही जनता का अपना राज कायम हो सकता है। और तभी असली पंचायती राज आयेगा ।

—आदेश कुमार

इस व्यवस्था में भूमि विवाद खत्म न होगा

चकबन्दी के बाद गहराते भूमि विवाद इस व्यवस्था के कुकृत्यों को ही उजागर करते हैं जिसका जीता-जागता उदाहरण यह आप बीती है।

चकबन्दी अधिकारियों के आदेशानुसार पर्चा 42 के आधार पर हम किसानों को चक नापकर दे दिया गया, जिसके आधार पर धारा 52 का प्रकाशन हुआ। हमारा चक हमारे घर से सटे पश्चिम मिला। मैं 10 वर्षो तक जोतता रहा पर कोई विवाद सामने नहीं आया। घर में रहने की तंगी महसूस हुई, सो मैने मकान बनाने के लिए नींव खोदना शुरू किया। ठीक उसी समय हमारे चक से सटे चकदार ने आकर रोक दिया। मैं मुश्किल में पड़ गया। मैंने कहा, अरे भाई आप क्यों रोक रहे हैं? मैं मकान अपने चक में बना रहा हूँ जो मुझे नाप कर मिला है। इस पर उस चकदार ने कहा, कि पहले तुम अपना चक नपवा जो इसके बाद मकान बनाना। मैं चक नपवाने के लिए तहसील कानूनगो से मिला। उसने कहा, दादा! चक नपवाने के लिए तहसील में 29/49 का दावा करो। जब मुझे एस.डी.एम.का आदेश मिलेगा नाप दूँगा। इसके बाद मैंने वकील से मिलकर 29/49 का दावा तहसील न्यायालय में दाखिल किया, जिसमें एक हजार रुपये खर्च हो गये। मुझे न्यायालय से नापने का आदेश एक वर्ष बाद मिला। मेरी 29/49 की फाइल कानूनगो के पास नापने के लिए गई, पर आज तक मेरा चक नापा नहीं गया, क्योंकि मैं कानूनगो की आर्थिक फरमाइश पूरी न कर सका। कई बार इसकी सूचना मैंने तहसील दिवस पर अधिकारियों को दी, पर तहसील दिवस इस व्यवस्था का ढोंग नजर आया। डी. एम. के आदेश के बाद जब कानूनगों से लिखित मांगा गया कि क्यों नहीं इनके चक की पैमाइश करते हो, तो उसने लिखकर दे दिया कि चक में रबी की फसल खड़ी है, जिससे चक का सीमांकन मुशकिल है, जबकि रबी की फसल कट चुकी थी। फिर मैंने एस.डी. एम.न्यायालय में आवेदन-पत्र दिया कि साहब रबी की फसल नहीं है कट चुकी है, इसकी जांच की जाये लेकिन न कोई जांचने आया न मेरे चक की पैमाइश हुई। न ही मेरा घर बना।

मेरा पूरा परिवार इस व्यवस्था से न्याय पाने की आशा छोड़ चुका है। लगता है भूमि विवाद इस व्यवस्था के चलते कभी खत्म नहीं होगा। इस व्यवस्था के नाश में ही हम गरीब किसानों को न्याय मिलेगा।

—हरिहर यादव
मर्यादपुर, मऊ

बिगुल पढ़िए, पढ़ाइए, प्रचारित कीजिए

बिगुल का वार्षिक चंदा : 30 रुपए

सूदखोरों के आतंक से रेलकर्मी द्वारा दो युवा पुत्रियों सहित आत्महत्या

सूदखोरो के आतंक के चलते झांसी में एक रेलकर्मी पातीराम ने अपनी दो युवा पुत्रियों सहित जहर खाकर आत्महत्या कर ली। सूदखोरों ने उसे अपने कर्जे के जाल में बुरी तीह फंसा लिया था और लगातार कई दिनों से उसे परेशान कर रहे थे।

झांसी में सूदखोरों के आंतक के चलते अनेक लोग आत्महत्या करने को मजबूर रहे गए हैं। इन सूदखोरों ने पुलिस नं.नौ के नगरा क्षेत्र में अपना जाल फैला रखा है। इन क्षेत्रों में अधिसंख्य रेलवे कर्मचारी रहते हैं। अनेक बार शिकायत मिलने के बावजूद प्रशासन इनके विरुद्ध कार्रवाई नहीं कर पाया है। सूदखोरों को पुलिस का भी भरपूर संरक्षण प्राप्त है।

इन सूदखोरों के चंगुल में सबसे जयादा रेलवे कर्मचारी ही हैं । रेलवे वर्कशाप व डीजल लोकोशैड भी नगरा क्षेत्र में हैं । रेलवे कर्मचारियों में भारी संख्या में इन लोगों ने अपना रुपया फैला रखा है जिसपर पांच प्रतिशत से लेकर बारह प्रतिशत तक ये ब्याज वसूलते हैं। सूदखोरों के खास आदमी इन रेलवे कर्मचारियों के बीच अपनी पैठ बनाए रखते हैं। यही लोग मौका पड़ने पर उधारी रुपया लेने को उकसाते हैं । एक बार जहां वह इनके जाल में फंसा तो जीवन भर उनके चंगुल से नहीं निकल पाता है। मूल कभी खत्म नहीं होता, सूद देते-देते ही मजदूर बूढ़ा हो जाता है। कई बार तो इनकी गुण्डागर्दी से बचने के लिए एक का सूद चुकाने के वास्ते दूसरे सूदखोर से कर्ज लेना पड़ता है।

सूबखोरों का यह आतंक केवल झांसी ही नहीं, बल्कि हर जगह फैला हुआ है। लखनऊ, गोरखपुर, बरौनी, मुंगेर, गाजियाबाद, हर जगह वर्कशाप या कार्यालयों में वेतन दिवस वाले दिन ये सूदखोर अपने बदमाशों के साथ पहुंचकर ब्याज वसूलना शुरू कर दते हैं। अनेकों बार तो यह देखा गया कि कई लोग तो अपना वेतन ही घर लेकर नहीं पहुंच पाए क्यों कि उनका पूरा वेतन ही छुड़ा लिया गया। रेलवे कर्मचारी वेतन दिवस पर पैसा न दे चकमा देकर निकल गए तो ये लोग उसका घर तक पीछा नहीं छोड़ते । आए दिन मारपीट व घर में तोड़फोड़ की घटनाएं होती रहती हैं । लेकिन संरक्षण होने के कारण इनके विरुद्ध पुलिस भी कोई कारगर कार्रवाई नहीं करती है। कई जगह तो यूनियन के लोग ही इन सूदखोरों की सरपरस्ती करते हैं।

—राकेश

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियां

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मजदूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मजदूर आंदोलन के इतिहास और सबक से मजदूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूंजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मजदूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मजदूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर ''कम्युनिस्टों'' और पूंजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

बिगुल यहां से प्राप्त करें

♦ शहीद पुस्तकालय, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादापुर**, मऊ ♦ मौर्या बुक स्टाल, सआदतपुरा (निकट रोडवेज), मऊनाथभंजन, **मऊ**
♦ जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर**
♦ विजय इन्फारमेशन सेन्टर, कचहरी बस स्टेशन, **गोरखपुर** ♦ विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, **बड़हलगंज**, गोरखपुर
♦ ओमप्रकाश, बाबा का पुरवा (पुराना), पेपर मिल रोड, निशातगंज, **लखनऊ**
♦ जनचेतना स्टाल, काफी हाउस के पास, हजरतगंज, **लखनऊ**, (शाम 5 से 7)
♦ राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ**
♦ विमल कुमार, बुक स्टाल, निकट नीलगिरी काम्प्लेक्स, ए ब्लाक, इंदिरानगर, **लखनऊ**
♦ देवेन्द्र प्रताप, द्वारा श्री इन्द्र सिंह रावत, आल्मा काटेज, 7, मल्लीताल, **नैनीताल**
♦ ललित सती, भारतीय जीवन बीमा निगम, आवास विकास, **रुद्रपुर** (ऊधमसिंहनगर)
♦ प्रोग्रेसिव, बुक सेंटर, लंका **वाराणसी**
♦ राजीव वर्मा द्वारा डा. जे.पी. वर्मा, बी. पी. 82, पटेलनगर, **मुगलसराय**, वाराणसी
♦ राजेन्द्र प्रसाद, रेनु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, **रेणुकूट**, सोनभद्र ♦ सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग, **नई दिल्ली**
♦ पुस्तक मण्डप, दिल्ली विश्वविद्यालय कोआपरेटिव स्टोर, दिल्ली विश्वविद्यालय, **दिल्ली**
♦ एस.के.शर्मा, 282 बी, रेलवे कालोनी, गढ़हरा, बेगूसराय ♦ सुनील कुमार सिंह, सेक्टर-12 बी, 3159, बोकारो इस्पातनगर, **बोकारो**
♦ गणपतलाल, ग्राम काजी रसूलपुर, पो. तेघड़ा, **बेगूसराय** ♦ विकल्प सांस्कृतिक मोर्चा, 1835, सिल्वर ओक अपार्टमेंट, नेपियर रोड, **जबलपुर**
♦ पीपुल्स बुक हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** ♦ समकालीन प्रकाशन (प्रा.)लि. पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना**
♦ संजय श्रीवास्तव, 221, उत्तरी सुन्दर वास, गंगा फ्लोर मिल, **उदयपुर**
♦ बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** ♦ शर्मा बुक स्टाल थाना रोड,चराली, **तिनसुकिया**
♦ नरभिण्डर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा/पो. **सन्तनगर**, जिला-सिरसा
♦ राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मंदिर, प्रधान नगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग**

नेपाल ♦ पुस्तक पत्र-पत्रिका बिक्री-वितरण केन्द्र दिल्ली बाजार ओकालो, **काठमांडू**
♦ विशाल पुस्तक सदन, बिबुआर बाजार, **प्यूठान**, राप्ती अंचल ♦ विशाल पुस्तक पसल, अस्पताल लाइन, **बुटवल**, लुम्बिनी
♦ विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्रवनपथ, घुटवल, रुपनदेई

नोयडा एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन में स्त्री मजदूरों का बर्बर शोषण

• नमिता

1980 के दशक में उदारीकरण की नीतियों की शुरुआत के बाद से देश के कई हिस्सों में एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन बनाये गये, यानी ऐसे विशेष औद्योगिक क्षेत्र जहां केवल विदेशों को निर्यात करने के लिए माल बनाने वाले उद्योग चलते हैं। पूंजीपतियों की सरकार ने विदेशी मुद्रा कमाकर लाने के नाम पर इन उद्योगों को कई वर्ष तक के लिए विभिन्न टैक्सों, एक्साइज तथा दूसरे शुल्कों से पूरी छूट दी तथा और भी बहुत तरह की रियायतें दीं। लेकिन सबसे बढ़कर उन्हें अपने कारखानों में श्रम कानूनों का खुला उल्लंघन करने की छूट दी गई। उन्हें मनमाने ढंग से मजदूरों को लूटने- खसोटने-निचोड़ने की आजादी दी गई है जबकि मजदूरों को अपने साथ होने वाले अन्याय पर जुबान खोलने तक का अधिकार नहीं हैं।

पिछले 8-9 वर्षों में लागू नीतियों ने देशभर में मजदूरों के शोषण-उत्पीडन को बेतहाशा बढ़ाया है, लेकिन एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन के मजदूरों की हालत तो बंधुआ मजदूरों जैसी हो गई है। और अब तो सरकार निर्यात के लिए सामान बनाने वाले उद्योगों को और लुभावना तोहफा पेश करने के लिए 'मुक्त व्यापार क्षेत्र' बनाने जा रही है जहां कागज पर भी कोई श्रम कानून लागू नहीं होंगे।

नोयडा एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन (एन ई पी जेड): *बर्बर शोषण और अमानवीय कार्य स्थितियां*

मुख्य नोयडा से कुछ हटकर स्थित एन ई पी जेड बाहरी दुनिया के लिए चमक-दमक से भरपूर खूब मुनाफा कमाने वाला औद्योगिक क्षेत्र है। लेकिन यहां काम करने वाले मजदूरों के लिए यह किसी नर्क से कम नहीं है।

चारों ओर से तारों की ऊंची बाड़ से घिरे एनईपीजेड के भीतर सिक्योरिटी की ऐसी व्यवस्था की गई है कि मजदूर एक जगह जुट ही नहीं सकते है। अपने दुख भी वे आपस में नहीं बांट सकते हैं। रोज सुबह काम पर आने और शाम को लौटने के समय स्त्री-पुरुष सभी मजदूरों की पूरी तलाशी ली जाती है। सुबह हजारों मजदूरों को लीलने के बाद बड़े-बड़े फाटक बंद हो जाते हैं और ऊंची बाड़ के पीछे लम्बे-चौड़े शेडों में निर्यात के लिए उत्पादन निर्बाध चलता रहता है। मजदूरों का खून-पसीना यूरोप और अमेरिका के धनपतियों के लिए बनने वाले कपड़ों, इलेक्ट्रानिक्स के सामानों, जवाहरात और गहनों में ढलता रहता है।

सभी एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन की तरह एनईपीजेड में स्त्री मजदूरों की संख्या कुल मजदूरों के लगभग आधे के बराबर है। यहां मौजूद 143 कारखानों में कुल 17,000 मजदूर काम करते हैं जिसमें करीब 7,000 स्त्रियां हैं। और स्त्री मजदूरों की तादाद बढ़ रही है क्योंकि वे निहायत एकरस और बोझिल कामों को भी बड़ी लगन से करती हैं, मालिकान उन्हें ज्यादा आसानी से नियंत्रित कर सकते हैं और काम कम होने या स्वास्थ्य खराब होते ही उनको निकाल बाहर करना ज्यादा आसान होता है। अक्सर उन्हें मजदूरी भी कम दी जाती है।

एनईपीजेड के उद्योगपतियों का मुनाफा जबर्दस्त ढंग से बढ़ा है। 1990-91 से 1997-98 तक इसका निर्यात 72 करोड़ से बढ़कर 604 करोड़ रुपये हो गया और विदेशी मुद्रा की आय 1993-94 में 82.5 करोड़ से बढ़कर 1997-98 में 294 करोड़ रुपये तक पहुंच गई। उन्हें पांच वर्ष तक सभी औद्योगिक टैक्सों, उत्पाद शुल्क और अन्य सरकारी भुगतानों से छूट दी गई, उन्हें सस्ती जमीनें मुहैया कराई गई और इन इकाइयों को 'सार्वजनिक रूप से उपयोगी' इकाई का दर्जा दे दिया गया। यह दर्जा देने का मतलब है कि मजदूर समझौता वार्ताएं चलाये बिना हड़ताल नहीं कर सकते। किसी भी तरह की यूनियन सम्बन्धी गतिविधि को खुद श्रम विभाग के अधिकारी दबाने की कोशिश करते हैं।

इन सरकारी तोहफों का भरपूर फायदा उठाकर जहां कारखानेदार लखपति से करोड़पति बन गये हैं वहीं एनईपीजेड के बाड़ों में काम करने वाले मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी तक नहीं मिलती है।

स्त्री मजदूरों की दशा और भी खराब है। उनसे ज्यादा रकम पर दस्तखत करवाकर कम पैसे दिये जाते हैं। ज्यादातर स्त्रियां रेडिमेड कपड़ों, रबर के सामानों तथा इलेक्ट्रानिक्स की इकाइयों में काम करती हैं। इनमें केरल और नेपाल जैसे दूर-दराज जगहों से आयी हुई औरतें भी हैं। मालिकान 20 से 30 वर्ष के बीच की गैर शादीशुदा स्त्रियों को ही रखने पर जोर देते हैं। रबर के दस्ताने बनाने वाले एक कारखाने में तो 11-11 साल की लड़कियां दिन में 10 घंटे काम करती हैं और सिर्फ 700 से 900 रुपए महीना कमा पाती हैं। केवल उन्हीं शादीशुदा स्त्रियों को काम मिलता है जिन्हें काम का पुराना अनुभव होता है। नौकरी छिनने का इतना आतंक होता है कि ज्यादातर स्त्रियां बिना शिकायत चुपचाप काम करती रहती हैं। अनेक स्त्रियां तो अपने शादी-शुदा होने की बात छिपाती हैं। केरल की एक मजदूर ने बताया कि उसने अपने छह महीने के बच्चे को अपनी मां के पास भेज दिया क्योंकि इसका पता चलते ही उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ता। नौकरी मांगने आने वाली स्त्रियों की यह देखने के लिए जांच कराई जाती है कि कहीं वह गर्भवती तो नहीं है। नौकरी लगने के बाद किसी स्त्री के शादी करने की बात पता चलते ही उसे फौरन निकाल दिया जाता है। एनईपीजेड के बाहर बेरोजगार स्त्री मजदूरों की भीड़ का फायदा उठाकर मालिकान किसी की नौकरी लेने में जरा भी नहीं हिचकते।

काम करने की अमानवीय स्थितियां और मालिकान की चोरी व डकैती

ज्यादातर स्त्रियां कम से कम 12 घंटे रोज काम करती हैं। तीन घंटे का ओवरटाइम करना सबके लिए जरूरी है लेकिन इसके बदले उन्हें सिंगल रेट पर ही भुगतान दिया जाता है जबकि डबल रेट मिलना चाहिए।

कई इकाइयों में स्त्रियों को आठ-नौ घंटे खड़े रहना पड़ता है। कहने को उन्हें बैठने के लिए कुर्सियां दी जाती हैं लेकिन चूंकि भुगतान पीस-रेट से होता है इसलिए अगर वह लगातार खड़े होकर काम न करें तो दो-जून की रोटी लायक भी नहीं कमा पायेंगी। अगर भूले-भटके कोई लेबर इंस्पेक्टर कारखाने में पंहुच भी जाता है तो मजदूरों को धमका कर उसके सामने यह कहलवाया जाता है कि किसी को 1800 रुपये से कम नहीं मिलते। कई कम्पनियां प्राविडेंट फंड में पैसा जमा नहीं करतीं लेकिन उसके लिए पैसा काट लेती हैं। यही हाल कर्मचारी राज्य बीमा योजना (ई एस आई) का है। बहुत सी स्त्रियों को इसका कार्ड ही नहीं मिलता।

ये स्त्रियां किन हालात में काम करती हैं इसका अंदाजा एक गार्मेन्ट फैक्ट्री की मजदूर की बात से लगाया जा सकता है। उसने बताया कि एक रजिस्टर में यह नोट किया जाता है कि कौन कितनी देर तक बाथरूम में रहा। अगर दिन भर में कुल मिलाकर यह समय पांच मिनट से ज्यादा हो जाता है तो चेतावनी दी जाती है।

ज्यादातर स्त्रियों को असेम्बली लाइन के काम में लगाया जाता है जिसमें सारा दिन एक जगह से हिले-डुले बिना लगातार एक ही काम करते रहना पड़ता है। वस्त्र इकाइयों में उन्हें धागा काटने, सिलाई, चेकिंग तथा पैकिंग के काम में लगाया जाता है जिसमें सिलाई छोड़ ज्यादातर काम खड़े रहकर करना पड़ता है। घंटों तक खड़े रहने के कारण पैरों में सूजन आम बात है। इसके अलावा रुई के उड़ते फाहों के कारण आंखों में जलन और खांसी तथा सांस की तकलीफ होती रहती है। कई बीमार व गर्भवती स्त्रियों पर इन कठिन स्थितियों में काम करने का बहुत बुरा असर पड़ता है। एक स्त्री के कारखाने में ही गर्भपात हो जाने की घटना मजदूरों ने बताई।

रबर के दस्ताने बनाने वाली इकाइयों में दस्तानों को आपस में चिपकने से बचाने के लिए महीन पाउडर का इस्तेमाल किया जाता है। कड़े संघर्ष के बाद मजदूरों को मुंह पर पहनने के लिए 'मास्क' दिये गये। लेकिन गर्मी के दिनों में शेड के भीतर होने वाली भयंकर गर्मी में मास्क लगाने से दम घुटने के कारण अकसर स्त्रियां बेहोश हो जाती हैं। मैनेजमेंट दावा करता है कि कारखानों में एअरकंडीशनर और कूलर लगे हुए हैं और अगर कोई बेहोश होता है तो अपनी लापरवाही के कारण। लेकिन असलियत यह है कि एसी और कूलर हाल की लम्बाई-चौड़ाई देखते हुए इतने कम हैं कि उनका कोई खास असर नहीं होता। दूसरे, वे कुछ घंटे ही चलाये जाते हैं, अकसर आधे एसी बंद रहते हैं। धूल लगातार फेफड़ों में जाने की वजह से कई स्त्रियों को टी बी की बीमारी भी है।

सजावटी लैम्प तैयार करने वाली एक इकाई की एक मजदूर ने बताया कि काम के दौरान हाथ-पैर सीधे करने के लिए दो-चार मिनट की छुट्टी लेना भी मुश्किल होता है। नेपाल से आई एक पंद्रह वर्ष की मजदूर ने बताया कि वह रोज 12 घंटे काम करती है और हफ्ते में उसे कोई छुट्टी नहीं मिलती है। लगातार खड़े रहने से उसके हाथ-पांव में हर समय भीषण दर्द रहता है। इनकी हालत प्राचीन रोम और यूनान के गुलामों जैसी बना दी गई है। उस समय हाथ जरा सा ढीले पड़े नहीं कि ओवरसीयर गुलामों की नंगी पीठ पर सड़ाक-सड़ाक चाबुक बरसाने लगता था। फर्क सिर्फ इतना है कि आज सीधे चाबुक मारने के बजाय नौकरी से निकालने की धमकी और पैसे काट लेने के कोड़े से मारा जाता है।

दूसरों के लिए स्वर्ग सजाने वाले खुद नर्क में जीते हैं

एनईपीजेड में अपना खून-पसीना निचुड़वाने के बाद घर लौटकर भी मजदूरों को सुकून नसीब होना मुश्किल है। एन ई पी जेड से कुछ दूर स्थित भंगेल और सिलारपुर की बस्तियों में यहां के ज्यादातर मजदूर रहते हैं।

पूरे इलाके में भयंकर गंदगी, बदबू, मच्छरों और बीमारी का सम्राज्य है। टूटी-फूटी सड़कें, बजबजाती नालियां, खुले शौचालय, जगह-जगह सड़ता पानी और इन्हीं के बीच बनी छोटी-छोटी कोठरियां, जिनमें हवा और रोशनी का आना भी मुश्किल हैऋऐसे में रहते हैं वे हजारों स्त्री और पुरुष जो अपने हाथों से एक से बढ़कर एक फैशनेबल कपड़े, चमचमाते जवाहरात से जड़े आभूषण, लाजवाब सजावटी वस्तुएं और अत्याधुनिक इलेक्ट्रानिक उपकरण बनाते हैं, जिनके बदले में देश में सैकड़ों करोड़ रुपए की विदेशी मुद्रा हर साल आती है। पूरे इलाके में पानी का स्रोत हैं हैण्डपम्प या फिर कुछेक सरकारी नलके । पीने और घरेलू कामकाज के लिए हर औरत को रोज 15-20 बाल्टी पानी भरकर ले जाना पड़ता है। कारखानों में काम करने वाली औरतों का दिन सुबह 5 बजे पानी भरने से शुरू होता है और फैक्ट्री से लौटकर घरेलू काम-काज खत्म करते-करते 11 बजे के पहले वे नहीं सो पाती हैं। पूरे इलाके का पानी हल्के जहर से कम नहीं है। आसपास फैले कारखानों से बहने वाले तमाम खतरनाक केमिकल रिस-रिसकर मिट्टी से होते हुए पानी में घुल रहे है। पानी पीला, बदबूदार और खारा होता है जिसे पीकर मजदूर तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हैं।

छह-छह, सात-सात परिवार मिलकर एक शौचालय का इस्तेमाल करते हैं। कहीं-कहीं तो 70 परिवारों के बीच एक शौचालय है। बिजली घंटों तक गायब रहती है। और ऐसे नर्क जैसे कमरों के लिए भी मजदूरों को अपनी आमदनी का अच्छा-खासा हिस्सा

(पेज 9 पर जारी)

डाक्टर और मजदूर

फ्रांस की रानी मेरी आंतुआनेत ने गरीबों को सलाह दी थी कि रोटी न मिले तो केक क्यों नहीं खाते! एन ई पी जेड की सरकारी डिस्पेंसरी के डाक्टर साहब अपने पास आने वाले गरीब मजदूरों को सलाह देते हैं कि बीमारी से बचना है तो 'वाटर फिल्टर' से छानकर या उबालकर पानी पिया करो। यह सलाह उन मजदूरों को दी जाती है जिनके लिए रोज परिवार सहित दोनों वक्त भरपेट खाना खाना मुश्किल होता है। कोई डाक्टर उन्हें साफ-सफाई रखने की सलाह देता है तो कोई अच्छा पौष्टिक भोजन करने की।

बुर्जुआ शिक्षा व्यवस्था में पांच वर्ष तक डाक्टरी पढ़े बाबू लोगों के बेटे-बेटियां दवाओं के नाम और बीमारी के लक्षण भले ही सीख लें पर देश के अस्सी फीसदी गरीब लोगों की बीमारियों की जड़ें कहां हैं, यह उन्हें कभी नहीं सिखाया जाता।

इसीलिए कवि **बेर्टोल्ट ब्रेख्ट** की कविता में मजदूर डाक्टर से कहता है:

हम जानते हैं क्या चीज हमें बीमार बनाती है
जब हम बीमार पड़ते हैं तो बताया जाता है
कि तुम हमें ठीक करोगे
दस साल तक—हमें बताया गया है—
तुमने सीखा है दवा-दारू का ज्ञान उम्दा कालेजों में,
जो बनाये गये जनता के पैसे से
और इस ज्ञान को हासिल करने के लिए
तुमने भारी खर्च किया है
लिहाजा तुम्हें दवा-दारू करना तो आना ही चाहिए?
क्या तुम दवा-दारू कर पाते हो?
जब हम तुम्हारे पास आते हैं
हमारे चिथड़े हटा दिये जाते हैं
और तुम आला लगाकर सुनते हो
हमारे समूचे नंगे बदन पर यहां-वहां
लेकिन जहां तक हमारे रोग के कारण की बात है
तो हमारे चिथड़ों पर एक नजर डालकर ही
तुम कहीं ज्यादा जान जाते
कि हमारे शरीर और हमारे कपड़ों
को गलाने वाला कारण एक सा है।
हमारे कंधे का दर्द
तुम कहते हो सीलन से होता है
और यही कारण है हमारे मकान की
दीवार पर पड़े धब्बे के पीछे
लिहाजा बताओ हमें
यह सीलन आती कहां से है
बहुत ज्यादा काम और बहुत कम भोजन
हमें दुबला और कमजोर बनाता है
तुम्हारे नुस्खे में लिखा है : वजन बढ़ाओ
यह वैसे ही है जैसे जल-पिंडकी से कहा जाए
गीली मत होना।
कितना समय दे सकते हो तुम हमें ?
हम देखते हैं : तुम्हारे मकान का एक गलीचा
पांच हजार मरीजों से ली गई फीस के बराबर है
बेशक तुम कहोगे, तुम निर्दोष हो !
हमारे मकान की दीवार पर पड़ा सीलन का धब्बा भी
यही कहता है !

"किसे लाभ होता है?"

• व्ला. इ. लेनिन

•

संकट में फंसे शासक वर्गों के लिए अंधराष्ट्रवाद और युद्धोन्माद भड़काना हमेशा एक कारगर हथकण्डा होता है। और फासीवादी ताकतें इसका इस्तेमाल करने में सबसे आगे रहती हैं। कारगिल के बहाने सीमा के दोनों पार के देशों में अखबार, पत्रिकाओं, रेडियो-टीवी द्वारा एक-दूसरे के खिलाफ जबर्दस्त युद्धोन्मादी अंधराष्ट्रवाद का घटाटोप फैलाया गया।

आने वाले दिनों में भी सीमा पर तनाव बना रहेगा और अरबों-खरबों के भारी खर्चे से युद्ध की तैयारियां जारी रहेंगी। इस युद्ध का, और लगातार बढ़ते फौजी खर्चों का बोझ आने वाले दिनों में कमरतोड़ महंगाई के रूप में दोनों देशों की जनता चुकाती रहेगी और उन्हें सरकारें यह बताने की कोशिश करती रहेंगी कि उनकी समस्याओं का मूल कारण साम्राज्यवाद और पूंजीवाद नहीं, बल्कि पड़ोसी ''दुश्मन देश'' की कार्रवाइयां हैं।

अपना-अपना उल्लू सीधा करने के लिए हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के शासक वर्ग युद्ध का जो विनाशकारी खेल खेल रहे हैं, उसकी कीमत तो दोनों देशों की जनता से ही वसूली जानी है। इस युद्ध में प्रतिदिन 15 से 30 करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान लगाया जा रहा है। कुल मिलाकर, इसके चलते अर्थव्यवस्था पर कुल लगभग 10 हजार करोड़ रुपये का अतिरिक्त खर्च पड़ने जा रहा है। सियाचिन में मौजूदा चौकियों के रखरखाव में सरकार को पहले से ही सालाना एक हजार करोड़ रुपये खर्च करने पड़ते हैं। अब कारगिल क्षेत्र में भी एक दर्जन स्थायी सामरिक चौकियां बनानी पड़ेंगी जिनका सालाना खर्च करीब 36,000 करोड़ रुपये अनुमानित है। साथ ही पूरे सीमा क्षेत्र में तनाव के चलते फौजी चौकसी के खर्च में भी पहले की अपेक्षा काफी बढ़ोत्तरी करनी पड़ेगी। यानी इस युद्ध में जो भारी खर्च हुआ वह तो हुआ ही, सरकार के नियमित फौजी खर्च में अब एकमुश्त भारी बढ़ोत्तरी करनी पड़ेगी। वैसे ही पिछले कुछ वर्षों के दौरान भारत सरकार का फौजी खर्च लगातार बढ़ता गया है।

परमाणु हथियार बनाने और रखने में आने वाले दस वर्षों तक प्रति वर्ष लगभग 3,000 करोड़ रुपये खर्च होगा। फौजी बजट अब तक स्वास्थ्य, शिक्षा और सामाजिक सेवाओं के मद में होने वाले केन्द्रीय खर्च से लगभग दूना रहा है।

इस सबकी कीमत वसूली जाती है उस भारी मेहनतकश आबादी से, जो जिन्दगी की न्यूनतम आवश्यकताओं से भी वंचित है। युद्धों और सेना के रख-रखाव का खर्च जुटाने के लिए जनता के ऊपर पहले ''देशभक्ति'' का सम्मोहन मंत्र फूंका जाता है और फिर उसके रंध्र-रंध्र से रक्त निचोड़ लिया जाता है।

पर इस सबसे लाभ किसे होता है?

आज से करीब 90 वर्ष पहले लिखा गया लेनिन का यह लेख आज के हालात पर भी उतने ही सटीक ढंग से लागू होता है। —सम्पादक

एक लैटिन सूक्ति है ``cui profidy" (कुई प्रोदेस्त)—''किसे लाभ होता है?'' जब तुरंत यह नजर नहीं आता कि कौन-से राजनीतिक या सामाजिक ग्रुप, शक्तियां या गंठजोड़ कतिपय प्रस्तावों, पगों, आदि की पैरवी करते हैं, तो हमेशा यह सवाल करना चाहिए—''किसे लाभ होता है?''

यह महत्वपूर्ण नहीं है कि कौन प्रत्यक्ष रूप से एक खास नीति की पैरवी करता है, इसलिए कि पूंजीवाद की वर्तमान उदात्त प्रणाली के अंतर्गत कोई भी अमीर किसी भी विचार की पैरवी करने के लिए किसी भी तादाद में वकीलों, लेखकों, यहां तक कि संसद सदस्यों, प्रोफेसरों, पादरियों, आदि को हमेशा ''भाड़े पर'' रख सकता है, खदीद सकता है या अपनी ओर खींच सकता है। हम व्यापार-युग में रह रहे हैं, जब बुर्जुआ लोगों को मान-मर्यादा या अंतःकरण का व्यापार करने में कोई शर्म-लाज नहीं होती। ऐसे भी भोले-भाले लोग होते हैं, जो मूर्खतावश या अपनी जमी हुई आदत से कतिपय बुर्जुआ क्षेत्रों में प्रचलित विचारों की पैरवी करते हैं।

जी हां, सचमुच राजनीति में यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि कौन प्रत्यक्ष रूप में प्रचलित विचारों की पैरवी करता है। महत्वपूर्ण तो यह है कि इन विचारों, इन प्रस्तावों या इन पगों से किसे लाभ होता है।

उदाहरण के लिए, ''यूरोप'', वे राज्य, जो अपने को ''सभ्य'' कहते हैं, हथियारों की पागलपनभरी दौड़ में जुटे हुए हैं। हजारों तरीकों से, हजारों अखबारों में, हजारों पीठों से वे देशभक्ति के बारे में, संस्कृति के बारे में, मातृभूमि के बारे में, शांति के बारे में, प्रगति के बारे में चिल्ला रहे हैं तथा कोलाहल कर रहे हैं—और यह सब विनाश के सब तरह के हथियारों पर, तोपों पर, 'ड्रेडनोटों' (नये प्रकार के युद्धपोतों) पर करोड़ों, दसियों करोड़ रूबल के नये खर्चों को न्यायोचित ठहराने की खातिर।

''देवियो, सज्जनो!''—तथाकथित देशभक्तों के इन फिकरों के बारे में कहने का मन होता है। ''फिकरों पर विश्वास न करें, यह देखना बेहतर है कि किसे लाभ होता है!''

कुछ ही समय पहले 'आर्मस्ट्रांग, ह्विटवर्थ एंड कंपनी' नामक प्रसिद्ध ब्रिटिश फर्म ने अपना वार्षिक बैलेंस-शीट प्रकाशित किया था। यह फर्म मुख्यतया विभिन्न प्रकार के हथियारों का निर्माण करती है। उसने 8,77,000 पौंड का, यानी लगभग 80 लाख रूबल का मुनाफा दिखाया और 12.5 प्रतिशत डिविडेंड देने की घोषणा की!! लगभग 9,00,000 रूबल रिजर्व पूंजी के रूप में अलग रख दी गयी, आदि, आदि।

हथियारबंदी के लिए मजदूरों तथा किसानों से खसोटे गये लाखों और अरबों रूबल इस तरह बहते हैं। 12.5 प्रतिशत डिविडेंड का अर्थ यह है कि पूंजी आठ साल में दुगुनी हो जाती है। और यह डायरेक्टरों, आदि को दी जाने वाली फीस के अलावा है: ब्रिटेन में आर्मस्ट्रांग, जर्मनी में क्रुप्प, फ्रांस में क्रेजो, बेल्जियम में कोकेरिल—कितने हैं ये सारे ''सभ्य'' देशों में? और अनगिनत ठेकेदार?

ये हैं वे, जिन्हें अंधराष्ट्रवाद भड़काने, ''देशभक्ति'' (तोपमूलक देशभक्ति) के बारे में, संस्कृति की रक्षा (संस्कृति का विनाश करनेवाले हथियारों से), आदि के बारे में बकबक करने से लाभ होता है!

{लेनिन, संकलित रचनाएं (दस खण्डों में), खण्ड पांच}

प्रतिक्रियावादी दमन-चक्र की काली आँधी में भी बुझ नहीं सकती पेरू के लोकयुद्ध की मशाल

• अरविन्द सिंह

पेरू में जारी लोकयुद्ध के नेता फेलिसियानो की गिरफ्तारी और दमन-चक्र का नया दौर

लगभग सात वर्षों पूर्व पेरू की संघर्षरत मेहनतकश जनता के नेता अबिमेल गुजमान (चेयरमैन गोंजालो नाम से लोकप्रिय) और पेरू की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के अधिकांश नेताओं की गिरफ्तारी के बाद संघर्ष की बागडोर सम्भालने वाले ऑसकर रेमिरेज डूरण्ड (जो जनता और पार्टी कॉमरेडों के बीच कॉमरेड फेलिसियानो के नाम से जाने जाते हैं) को भी विगत जुलाई के पहले सप्ताह में तानाशाह अल्बर्टो फूजीमोरी की सरकार ने गिरफ्तार कर लिया है। उसने घोषणा की है कि फेलिसियानो के साथ भी वही सुलूक किया जायेगा जो गोंजालो के साथ किया गया था। अपनी इस सफलता से उत्साहित होकर उसने एक बार फिर यह घोषणा की है कि पेरू में लोकयुद्ध अब समाप्त हो जायेगा।

फूजीमोरी जैसे तानाशाह इतिहास से सबक लेना नहीं जानते। वे जनता की संघर्ष क्षमता और सच्चाई से सबक लेना नहीं जानते। वे जनता की संघर्ष क्षमता और सच्चाई एवं इंसाफ की ताकत का कभी सही अन्दाज लगा ही नहीं सकते, इसलिये सत्ता के मद में चूर होकर वे इतिहास का रास्ता रोककर खड़े होने की मूर्खतापूर्ण हिमाकत बार बार करते रहते हैं। सात वर्षों पूर्व जब गोंजालो की गिरफ्तारी हुई थी तब भी फूजीमोरी ने यही डींग हाँकी थी। लेकिन दमन के थपेड़ों से कुछ समय तक लड़खड़ाने और एक हद तक मार्ग में मोड़ आ जाने के बावजूद पेरू की कम्युनिस्ट पार्टी जनता से पुनः शक्ति अर्जित कर चुकी थी और विगत एक वर्ष से लोकयुद्ध उठान पर आ गया था। कॉमरेड फेलिसियानो लोकयुद्ध के इस नये उभार का सफलतापूर्वक नेतृत्व एवं संचालन कर रहे थे।

गोंजालो की गिरफ्तारी के बाद अपने अमेरिकी आकाओं से हरसम्भव मदद लेकर फूजीमोरी संघर्षरत जनता और उसके नेताओं पर भूखे भेड़ियो की तरह टूट पड़ा था। हजारों कार्यकताओं और समर्थकों को गिरफ्तार कर जेलों में ठूंस दिया गया, तरह-तरह की अमानुषिक यातनाएं दी गयीं और ''आतंकवादियों'' को कुचलने के नाम पर गांवों और कस्बों में सरकार द्वारा गठित अर्द्धसैनिक ''आत्म रक्षा समितियों'' ने सैकड़ो क्रान्तिकारी कार्यकताओं एवं हमदर्दों की हत्याएं कीं। फूजीमोरी की यह घोषित नीति रही है कि ''एक छापामार सैनिक को पकड़ने के लिए दस किसानों को मार डालो'' और उसने इसको अमली जामा भी पहनाया।

गोंजालो को गिरफ्तार करने के बाद अमानुषिक यातनाओं का जो सिलसिला शुरू हुआ था वह आज भी जारी है। पेरू के एक निर्जन पहाड़ी क्षेत्र में स्थित एक जेल की भूमिगत छोटी सी कालकोठरी में गोजालो आज भी कैद-ए-तन्हाई में जी रहे हैं। गिरफ्तारी के बाद फौजी अदालत में देशद्रोह का मुकदमा चलाने का जो नाटक हुआ था, उससे पूरी दुनिया परिचित है। गोंजालो के मुकदमे की पैरवी करने वाले वकील तक को ''तोड़फोड़'' की गतिविधियों में लिप्त रहने के आरोप में आजीवन कारावास में डाल दिया गया और एकतरफा ढंग से नकाबपोश जजों ने गोंजालो को मौत की सजा सुना दी थी। दुनिया भर में जबर्दस्त विरोध प्रदर्शनों के बाद अन्ततः फूजीमोरी सरकार फांसी की सजा को आजीवन कारावास में बदलने पर बाध्य हुई। तब से लेकर आज तक गोंजालो को बाहरी दुनिया से पूरी तरह काटकर सशस्त्र पहरे में कैद रखा गया है। और अब फेलिसियानो के साथ भी यही सुलूक करने की घोषणा फूजीमोरी ने की है।

एक तरफ पेरू के लोकयुद्ध पर फूजीमोरी की दमन-मशीनरी का कहर जारी था, दूसरी ओर पेरू की कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर भी एक समझौतावादी दक्षिणपन्थी लाइन पैदा हो गयी थी, जो सत्ता के दमन के आगे घुटने टेकते हुए लोकयुद्ध को त्यागकर ''शान्ति'' की वकालत कर रही थी। पेरू की क्रान्ति के सामने उपस्थित इन बाहरी और भीतरी दोनों कठिन चुनौतियों का साहसपूर्वक मुकाबला करते हुए कॉमरेड फेलिसियानो ने पेरू में लोकयुद्ध की मशाल को न केवल जलाये रखा था, बल्कि मेहलतकश जनता से पुनः शक्ति अर्जित करते हुए उन्होंने पेरू की कम्युनिस्ट पार्टी और जन मुक्ति सेना को पुनः हमलावार स्थिति में ला खड़ा किया था। इससे फूजीमोरी का ''लोकयुद्ध के समाप्त हो जाने'' का सपना चकनाचूर हो गया था और कॉमेरड फेलिसियानो उसके लिए दुःस्वप्न बन गये थे। विशेषकर पिछले वर्ष के अन्त से जनमुक्ति सेना के छापामारों ने ''सरकारी आत्म रक्षा समितियों'' व फूजीमोरी के अन्य भाड़े के सैनिकों के ठिकानों पर छापामार कार्रवाइयों का जो नया सिलसिला शुरू किया उससे फूजीमोरी और उसके अमेरिकी आका बदहवास हो उठे थे। सरकारी खुफिया एजेंसियां कुत्तों की तरह फेलिसियानो का पता-ठिकाना जानने के लिए मारी-मारी फिर रही थीं। अन्ततः वे फेलिसियानो को गिरफ्तार करने में सफल हो गयी हैं।

फेलिसियानो की गिरफ्तारी से पेरू की क्रान्ति को फिर से एक जबर्दस्त धक्का लगा है। इससे लोकयुद्ध में जो नया उभार आया था, वह फिर कुछ समय के लिए उतार पर जा सकता है। इस बात की सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि पेरू की कम्युनिस्ट पार्टी में दक्षिणपन्थी समर्पणवादी रुझानें फिर सिर उठा लें। लेकिन इन सबके बावजूद तानाशाह फूजीमोरी और उसके अमेरिकी आका चैन की बंशी नहीं बजा पायेंगे। पिछले उन्नीस वर्षो लम्बे संघर्षों के दौरान, विभिन्न मोड़ों-घुमावों, चढ़ावों-उतारों से गुजरते हुए पेरू की क्रान्ति ने मेहनतकश जनसमुदाय के बीच अपनी जड़ें इतनी गहरी जमा ली हैं कि अब उसे उखाड़ा नहीं जा सकता। संघर्षों के दौरान जन-कमेटियों के रूप में मेहनतकश जनसमुदाय ने जो समानान्तर जनसत्ता कायम कर ली है, उसे पूरी तरह कभी कुचला नहीं जा सकता।

पेरू की कम्युनिस्ट पार्टी प्रतिक्रियावादी शासक वर्गों के इस नये हमले का एक बार फिर साहसपूर्वक मुकाबला करने में सफल होगी क्योंकि संघर्षों की आंच में तपकर वह अब तक फौलाद बन चुकी है और उसकी विचारधारात्मक जमीन भी पुख्ता होती गयी है। एक बार फिर पेरू का सर्वहारा वर्ग और अन्य उत्पीड़ित जनसमुदाय अपने हरावलों को अपनी अदम्य जिजीविषा से संजीवनी प्रदान करेगा और संकट के इस नये दौर से भी पहले की तरह बाहर खींच लायेगा। फूजीमोरी का ''सपना'' इस बार भी पूरा नहीं होगा।

पेरू की क्रान्ति की इस संकट की घड़ी में हमारे देश और पूरी दुनिया की क्रान्तिकारी शक्तियों का यह फौरी कर्तव्य है कि हम विश्व सर्वहारा क्रान्ति के हक में अपने अन्तराष्ट्रीय कर्तव्यों का पालन करते हुए कामरेड फेलिसियानो की गिरफ्तारी और उन पर गोंजालो जैसा ''मुकदमा'' चलाने की कोशिशों का पुरजोर और हरसम्भव विरोध करें। •

भगतसिंह के जन्मदिवस (27 सितम्बर) के अवसर पर

भगतसिंह और मजदूर आन्दोलन

•

शहीदेआजम भगतसिंह ही वह व्यक्ति थे जिन्होने भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन में समाजवाद और मजदूर क्रान्ति के विचार को स्थापित किया। उन्होंने एक ऐसी आजादी का सपना देखा था जिसमें सत्ता पूंजीपतियों के चाकरों के नहीं बल्कि मजदूरों-किसानों के हाथों में होगी। उन्होंने साफ कहा था कि इस देश के मजदूरों और किसानों के लिए इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि आजादी के बाद लार्ड रीडिंग तथा लार्ड इरविन के स्थान पर सेठ पुरुषोतम दास या बिड़लाजी आ जायें।

जेल में तैयार किये गये **'क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा'** में भगतसिंह ने लिखा, ''भारतीय पूंजीपति भारतीय जनता को धोखा देकर विदेशी पूंजी से विश्वासघात की कीमत के रूप में सरकार में कुछ हिस्सा प्राप्त करना चाहता है। इसी कारण मेहनतकश की तमाम आशाएं अब सिर्फ समाजवाद पर टिकी हैं और सिर्फ यही पूर्ण स्वराज्य और सब भेदभाव खत्म करने में सहायक साबित हो सकता है।''

भगतसिंह ने असेम्बली में बम फेंकने के लिए खासतौर पर वह दिन चुना था जिस दिन ब्रिटिश सरकार सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक तथा औद्योगिक विवाद विधेयक पेश करने जा रही थी जिनका उद्देश्य स्वतंत्रता आन्दोलन तथा खासकर मजदूरों के बढ़ते संघर्षों का दमन करना था।

जेल में लिखे गए अनेक लेखों और अदालत में अपने बयानों में भगतसिंह ने इस बात को जोरदार तरीके से उठाया कि व्यापक मजदूर-किसान आबादी को एक क्रान्तिकारी पार्टी के माध्यम से संगठित करके ही ऐसा इंकलाब लाया जा सकता है जो देश से शोषण-उत्पीड़न का खात्मा कर देगा। मजदूर आन्दोलन में फैले गलत विचारों पर चोट करते हुए उन्होने कहा था : ''मजदूर आन्दोलन में ऐसे व्यक्ति हैं जो मजदूरों और किसानों की आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के बारे में बड़े विचित्र विचार रखते हैं। ये लोग उत्तेजना फैलाने वाले या बौखलाए हुये हैं। हमारा मतलब जनता की आर्थिक स्वतंत्रता से है और इसी के लिए हम राजनीतिक ताकत हासिल करना चाहते हैं। शुरू में छोटी-बड़ी आर्थिक माँगों और इन वर्गों के विशेष अधिकारों के लिए हमें लड़ना होगा। यह संघर्ष उन्हें राजनीतिक ताकत हासिल करने के लिए अन्तिम संघर्ष के लिए सचेत व तैयार करेगा।''

अभी इसी वर्ष हुई भगतसिंह की ऐतिहासिक जेल नोटबुक हिन्दी में पहली बार प्रकाशित हुई है। यह इस बात का साक्ष्य है कि भगतसिंह अपने अन्तिम दिनों तक इस देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन की वैचारिक समस्याओं से जूझ रहे थे। उन्होने इस बात पर बेहद जोर दिया कि भारतीय क्रान्ति का वैचारिक पहलू कमजोर रहा है और इस देश की ठोस सच्चाइयों और वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा का गहराई से अध्ययन किये बिना जनता के संघर्षों को सही दिशा नहीं दी जा सकती। यह नोटबुक एक बार फिर इस बात का अहसास कराती है कि अगर सिर्फ 23 वर्ष की उम्र में भगतसिंह को फांसी न हुई होती तो राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष और भारतीय सर्वहारा क्रान्ति का इतिहास कुछ और ही ढंग से लिखा जाता।

इतिहास की इस धरोहर से एक उद्धरण यहां प्रस्तुत है:

''सुधरी हुई राजनीतिक संस्थाएं, पूंजी और श्रम के बीच समझौता कराने वाली परिषदें, परोपकार और विशेषाधिकार जो पूंजीपतियों की खैरातों के अलावा और कुछ नहीं है—इनमें से कोई भी चीज उस सवाल का जवाब नहीं दे सकती जो मंदिरों, सत्ता के सिंहासनों और संसदों को कंपकंपा रहा है। जो लोग दबे–कुचले हैं और जो उनकी पीठ पर सवार होकर आगे बढ़े हुए हैं, अब इन दोनों के बीच कोई अमन–चैन नहीं रह सकता। अब वर्गों के बीच कोई मेल–मिलाप नहीं हो सकता, अब तो वर्गों का सिर्फ अन्त ही हो सकता है। जब तक पहले न्याय न हो, तब तक सद्भावना की बात करना अनर्गल प्रलाप है, और जब तक इस दुनिया का निर्माण करने वालों का अपनी मेहनत पर अधिकार न हो, तब तक न्याय की बात करना बेकार है।''

प्रस्तुति : अभिनव

''पूंजीवादी समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुंह पर बैठकर रंगरेलियां मना रहा है''

समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मजदूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मुहताज हैं। दुनिया-भर के बाजारों को कपड़ा मुहैया करनेवाला बुनकर अपने तथा अपने बच्चों के तन ढकने-भर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करनेवाले राजगीर, लोहार तथा बढ़ई स्वयं गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति जरा-जरा सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं।

यह भयानक असमानता और जबर्दस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुंह पर बैठकर रंगरेलियां मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।

सभ्यता का यह प्रासाद यदि समय रहते संभाला न गया तो शीघ्र ही चरमराकर बैठ जायेगा। देश को एक आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। और जो लोग इस बात को महसूस करते हैं उनका कर्तव्य है कि साम्यवादी सिद्धान्तों पर समाज का पुनर्निर्माण करें। जब तक यह नहीं किया जाता और मनुष्य द्वारा मनुष्य का तथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण, जो साम्राज्यशाही के नाम से विख्यात है, समाप्त नहीं कर दिया जाता तब तक मानवता को उसके क्लेशों से छुटकारा मिलना असम्भव है, तब तक युद्धों को समाप्त कर विश्व-शान्ति के युग का प्रादुर्भाव करने की सारी बातें महज ढोंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं।

क्रान्ति से हमारा मतलब अन्ततोगत्वा एक ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना से है जो इस प्रकार के संकटों से बरी होगी और जिसमें सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य सर्वमान्य होगा। और जिसके फलस्वरूप स्थापित होनेवाला विश्व-संघ पीड़ित मानवता को पूँजीवाद के बन्धनों से और साम्राज्यवादी युद्ध की तबाही से छुटकारा दिलाने में समर्थ हो सकेगा।

यह है हमारा आदर्श। और इसी आदर्श से प्रेरणा लेकर हमने एक सही तथा पुरजोर चेतावनी दी है। लेकिन अगर हमारी इस चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया गया और वर्तमान शासन-व्यवस्था उठती हुई जनशक्ति के मार्ग में रोड़े अटकाने से बाज न आयी तो क्रांन्ति के इस आदर्श की पूर्ति के लिए एक भंयकर युद्ध का छिड़ना अनिवार्य है। सभी बाधाओं को रौंदकर आगे बढ़ते हुए उस युद्ध के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र की स्थापना होगी। यह अधिनायकतन्त्र क्रान्ति के आदर्शों की पूर्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा। क्रान्ति मानवजाति का जन्मजात अधिकार है जिसका अपहरण नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। श्रमिक वर्ग ही समाज का वास्तविक पोषक है, जनता की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना श्रमिक वर्ग का अन्तिम लक्ष्य है। इन आदर्शों के लिए और इस विश्वास के लिए हमें जो भी दण्ड दिया जायेगा, हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे। ... हम सन्तुष्ट हैं और क्रान्ति के आगमन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

—भगतसिंह

(असेम्बली बमकाण्ड पर सेशन कोर्ट में बयान)

इस तरह बिना आग के धुआं उगलता है पूंजीवादी मीडिया

बिना आग के धुआं कैसे निकलता है, इसकी तरकीब कोई पूंजीवादी मीडिया से सीखे। एक बानगी देखिये।

राजधानी नयी दिल्ली से देशी ''मीडिया मुगल'' गोयनका घराने से प्रकाशित हिन्दी दैनिक 'जनसत्ता' के आठ जून 1999 के अंक में छपी एक खबर का शीर्षक है—'श्रम कानूनों में बुनियादी परिवर्तन की मांग ने जोर पकड़ा'। शीर्षक से क्या ध्वनित होता है यही कि समाज के विभिन्न तबके बेहद जोर-शोर से श्रम कानूनों में बदलाव की मांग कर रहे हैं। कोई भी व्यक्ति यह निष्कर्ष आसानी से निकालेगा कि देश में श्रम कानूनों में बदलाव के लिए जबर्दस्त आन्दोलन का माहौल बन रहा है।

लेकिन उपर्युक्त शीर्षक से प्रकाशित समाचार को पढ़ने पर पता चलता है कि सिर्फ कुछ ''विशेषज्ञों'' के हवालों से समाचार लेखक ने यह साबित करने की कोशिश की है कि पुराने श्रम कानून भूमण्डलीकरण के दौर में पुराने पड़ गये हैं और यदि इन्हें न बदला गया तो घरेलू उद्योग बाजार प्रतिस्पर्द्धा में पिट जायेंगे। इस धारणा को पुष्ट करने के लिए समाचार लेखक ने स्रोत के रूप में इण्टरनेशनल मैनेजमेण्ट इंस्टीट्यूट, दिल्ली के एक प्रो. सी. एस. वेंकटरत्नम के सिर्फ एक परचे का उल्लेख किया है। इन प्रोफेसर महोदय के तर्कों के अतिरिक्त लेखक ने श्रम कानूनों को बदलने के पक्ष में बेनाम ''विशेषज्ञों'' के हवालों से तर्कों का जाल रचा है।

अब जरा प्रोफेसर वेंकटरत्नम और अन्य ''विशेषज्ञों'' के तर्कों की चर्चा भी कर ली जाये। प्रोफेसर साहब का बुनियादी तर्क यह है कि ''श्रम कानूनों में जटिलता से निवेश फैसलों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।'' उनके अनुसार निवेश कम होगा तो आर्थिक बढ़ोत्तरी की दर कम होगी और इससे बेरोजगारी बढ़ेगी। किसी को भ्रम हो सकता है कि प्रोफेसर साहब बेरोजगारी की चिन्ता से ग्रसित होकर ''श्रम कानूनों की जटिलता'' को दूर करने की बात कर रहे हैं। लेकिन, यह भ्रम जल्दी ही दूर हो जाता है जब समाचार लेखक अन्य ''विशेषज्ञों'' को प्रोफेसर साहब के समर्थन में खड़ा करते हैं।

इन बेनाम ''विशेषज्ञों'' की चिन्ता यह है कि ''भारत में नौकरियों को कानूनी तौर पर अत्यधिक संरक्षित किया गया है।'' मलयेशिया के उदाहरण से इन्होंने सुझाव दिया है कि मजदूर की भर्ती, स्थानान्तरण, पदोन्नति, कार्यनिर्धारण और कार्यसमायोजन का अधिकार मालिक को दे देना चाहिए।

भारत में पुराने श्रम कानूनों के तहत इन सबमें यूनियनों को अड़ंगा लगाने का अधिकार मिला हुआ है। इसलिए, इन महानुभावों ने सुझाव दिया है कि ''भारत में श्रम नीति का मुख्य मकसद मजदूरों का शिक्षण-प्रशिक्षण कर उनको कुशल और उत्पादक बनाना होना चाहिए, न कि बेकार और अनुत्पादक मजदूरों की नौकरी को बचाये रखना।''

ऐसे ही कुछ अन्य बेनाम ''विशेषज्ञों' के हवाले से श्रम ''बाजार को लचीला'' बनाने के पक्ष में कुछ निर्यात-केन्द्रित उद्योगों—जैसे साफ्टवेयर, रत्नआभूषण और वस्त्र परिधान उद्योग—का उदाहरण समाचार लेखक ने दिया है। लेखक की राय में इन उद्योगों में वृद्धि का कारण यह है कि इनमें श्रम बाजार ''लचीला'' है। इसके उलट इंजीनियरिंग उद्योग इसलिये मन्दी में हैं कि इनमें श्रम बाजार लचीला नहीं है।

यह है इन स्वनामधन्य अनाम ''विशेषज्ञों'' के तर्कों की इमारत, जिसकी बुनियादी पर खड़े होकर समाचार लेखक ने ''श्रम कानूनों में परिवर्तन की मांग को'' जोर पकड़ा दिया है। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह समाचार देश की प्रमुख समाचार एजेंसी 'यूनीवार्ता' ने जारी किया है और यह लगभग सभी महत्वपूर्ण समाचार पत्रों में निश्चित ही छपा होगा।

स्पष्ट है कि पूरा समाचार सिर्फ देशी उद्योग जगत के मालिकों की हितचिन्ता से प्रेरित होकर लिखा गया है। श्रम कानूनों में बदलाव के बारे में मजदूर संगठनों के प्रतिनिधि क्या सोचते हैं न तो ''विशेषज्ञों'' को इसकी चिन्ता है और न ही समाचार लेखक को। प्रोफेसरी भाषा में जिस चीज की वकालत की गयी है वह एकदम स्पष्ट है—मजदूरों को उनके मालिकों के रहमो-करम पर छोड़ देना चाहिए। वे चाहे जो मनमानी करें—मजदूरों की मजदूरी हड़प लें, मनचाहे घण्टों तक बिना छुट्टियों के काम करायें, जब चाहे निकाल बाहर करें, इसकी उन्हें पूरी छूट मिलनी चाहिए। इसमें यूनियनों की अड़ंगेबाजी बन्द होनी चाहिए। या तो यूनियनें होनी ही नहीं चाहिए या हों भी तो मालिकों के पक्ष से मजदूरों को समझाने-बुझाने का काम करें हड़ताल-प्रदर्शन न करें। इससे मालिकों का नुकसान होता है। मजदूरों को सिर्फ सिर झुकाकर अपना खून-पसीना बहाते रहना चाहिए जिससे मालिकों की तिजोरियां भरती रहें। ''श्रम कानूनों की जटिलता को खत्म करने'' और ''श्रम बाजार को लचीला बनाने'' का इसके सिवा कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

न तो इन विशेषज्ञों पर किसी को आश्चर्य होना चाहिए और न ही ऐसे पत्रकारों पर। भूमण्डलीकरण के इस दौर में पूरे भूमण्डल पर ऐसे बाजारू विशेषज्ञों और पत्रकारों की एक अच्छी खासी फसल लहलहा रही है, जिन्होंने अपनी आत्माओं को चन्द टुकड़ों के लिए बेच दिया है। पूंजीवादी मीडिया ऐसे ही बौद्धिक दासों को खरीदकर झूठ का अम्बार खड़ा करता है और पढ़े लिखे मध्यवर्ग और आम जनता के सचेत हिस्से की चेतना को कुन्द करने और उन्हें व्यवस्था के पक्ष में खड़ा करने का काम करता है।

—मीनाक्षी

क्रान्तिकारी विकल्प के निर्माण के लिए आगे बढ़ो! अब यह अपरिहार्य है! और सम्भव है!

(पेज एक से आगे)

सर्वहारा वर्ग के शिक्षकों ने बार-बार यह भी स्पष्ट किया है कि पूंजीवादी जनतंत्र में संसद की भूमिका हर हमेशा ''दिखाने के दांतों'' की ही होती है। ''राज्य के असली काम की तामील पर्दे की ओट में की जाती है और उसे महकमे, दफ्तर और फौजी सदर मुकाम करते हैं। संसद को ''आम जनता'' को बेवकूफ बनाने के विशेष उद्देश्य से बकवास करने के लिए छोड़ दिया जाता है'' *(लेनिन : राज्य और क्रान्ति)।*

भारतीय संसदीय व्यवस्था इतने अधिक नंगे और भद्दे ढंग से लेनिन की बातों को सही साबित करती है कि व्याख्या-विश्लेषण की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती।

चुनावों से सिर्फ सरकारें बदलती हैं। घिस चुके और बदनाम हो चुके मुखौटे की जगह नया मुखौटा सामने आता है। देशी-विदेशी थैलीशाहों के हाथ जिस दल या गठबंधन की पीठ पर हों, वह सदन में बहुमत पाकर सरकार बनाता है और इसी बहुमत के बूते वह संसद से शासक वर्गों के हित में तरह-तरह के कानूनों और फैसलों पर मंजूरी लेता है। इस प्रक्रिया में विपक्ष विरोध और बहिर्गमन आदि का नाटक करता है। संसद की भूमिका मात्र इतनी ही होती है। वह सिर्फ बहसबाजी का अड्डा है। शासक वर्ग के हित में जो कार्यपालिका राजकाज चलाती है, सरकार तो वास्तव में उसका एक गौण हिस्सा है। असली काम तो नौकरशाही का वह विराट ढांचा करता है, जो दिल्ली से लेकर ब्लाक सतर तक फैला हुआ है। सरकारें आती जाती रहती हैं, नौकरशाही अपनी जगह बरकरार रहती है। इसके अलावा जनता के असंतोष को दबाने और डण्डे का भय बनाये रखने के लिए पुलिस तंत्र है, अर्द्ध सैनिक बल हैं और विद्रोहों से निपटने के लिए फौज है। यह राज्य सत्ता का प्रधान अंग है, जिसके बूते व्यापक मेहनतकश समुदाय पर पूंजीवादी तानाशाही को कायम रखा जाता है।

आम जनता के सजग, जागरूक हिस्से आज अपने अनुभव से ही इन चीजों को समझने लगे हैं, लेकिन उन्हें राज्यसत्ता के पूरे चरित्र को और पूंजीवादी जनवाद के सभी फरेबों-तिकड़मों को पूरी तरह समझना होगा तभी इसके सही क्रान्तिकारी विकल्प का निर्माण संभव हो सकेगा।

भारतीय पूंजीवादी जनवाद की जन्मपत्री पर एक नजर

भारत के पूंजीपति वर्ग की राज्यसत्ता और भारतीय पूंजीवादी जनवाद के चरित्र को ढंग से समझने के लिए कुछ और बातों पर विचार जरूरी है। भारत का पूंजीपति वर्ग औपनिवेशिक सामाजिक ढांचे के गर्भ से पैदा हुआ और विश्व पूंजीवाद के साम्राज्यवादी दौर में सयाना हुआ। पहले यह औपनिवेशिक महाप्रभुओं का अनुचर रहा। फिर इसने रियायतें मांगनी शुरू कीं। अंग्रेज जब पहले विश्वयुद्ध में उलझे तो उसका लाभ उठाकर इसने अपनी कुछ आर्थिक ताकत बढ़ा ली। इस समय तक भारतीय मजदूरों-किसानों के संघर्ष भी तेजी से विकसित होने लगे थे। इसका लाभ उठाकर पूंजीपतियों के धूर्त राजनीतिक प्रतिनिधियों ने स्वयं को पूरी जनता के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करने तथा ब्रिटिश सत्ता पर दबाव बनाने की शुरुआत की। पर वे शुरू से ही इस बात की पूरी सावधानी बरतते थे कि कहीं जनता की सक्रियता क्रान्तिकारी दायरे में न पहुंच जाये और नेतृत्व उनके हाथों से निकल न जाये।

पूरी दुनिया के बाजार के बंटवारे के लिए साम्राज्यवादी जब दूसरे विश्वयुद्ध में उलझे, तो फिर इस स्थिति का लाभ भारतीय पूंजीपतियों ने उठाया। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अंग्रेजों की ताकत कमजोर हुई। नये चौधरी के रूप में अमेरिका उभरा। दुनियाभर में जारी मुक्ति-संघर्षों और क्रान्तियों के चलते साम्राज्यवादी यह समझ चुके थे कि सीधे गुलाम बनाकर—उपनिवेश कायम करके लूटना अब मुमकिन नहीं। नई रणनीति बनाना जरूरी था। यह पहल अमेरिका ने ली और वह साम्राज्यवादी डकैतों के गिरोह का नया सरदार बनकर उभरा।

1945-46 तक अंग्रेज यह समझ चुके थे कि भारतीय पूंजीपतियों की पार्टी कांग्रेस को सत्ता सौंपना उनके सामने एकमात्र सुरक्षित विकल्प है, अन्यथा व्यापक जनक्रान्ति का तूफान दहलीज पर खड़ा था। नौसेना विद्रोह, व्यापक मजदूर उभार, तेलंगाना-तेभागा-पुनप्रा-वायलार के किसान संघर्ष—भावी जनक्रान्ति की आहटें मात्र थे। तत्कालीन सर्वहारा वर्गीय नेतृत्व की कमजोरियों और दुविधा के चलते भारतीय जनक्रान्ति की सम्भावनाएं धूल में मिल गईं। अंग्रेज साम्राज्यवादियों की और भारतीय पूंजीपति वर्ग की धूर्तता और शातिर चालों को कामयाबी मिली। जनता के वीरतापूर्ण संघर्षों और बलिदानों के चलते प्रत्यक्ष औपनिवेशिक गुलामी का तो खात्मा हुआ, लेकिन साम्राज्यवादी लूट जारी रही। अंग्रेज साम्राज्यवादी इस बात को भली भांति जानते थे कि भारतीय पूंजीपति जब सत्ता में आने के बाद पूंजीवादी विकास का रास्ता चुनेंगे तो विश्वव्यापी इजारेदारियों के प्रभुत्व की इस सदी में वे साम्राज्यवादी तंत्र से स्वतंत्र कदापि नहीं हो सकेंगे। ऐसा करने की कोशिश करने पर विश्व बाजार में उनका प्रवेश वर्जित हो जायेगा। पूंजी और तकनोलाजी के लिए भारत के नये शासकों को साम्राज्यवादियों के आगे झुकना ही था।

भारतीय पूंजीवाद की यह ऐतिहासिक नियति थी कि उसे राज्यसत्ता हासिल करने के बाद साम्राज्यवादियों की मदद से ही इस देश की जनता को लूटना था। भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवादी लुटेरों के आपसी झगड़ों-टकरावों का तथा समाजवादी देशों के खेमे की मौजूदगी का लाभ उठाकर तथा तीसरी दुनिया के नवस्वाधीन देशों के पूंजीवादी शासकों का गुट बनाकर, अपने देश की जनता की लूट में अपना हिस्सा बढ़ा करने की तथा साम्राज्यवादियों से आजादी लेने की हर संभव कोशिश की, पर इन कोशिशों की एक स्पष्ट सीमा थी।

जो पूंजीपति वर्ग पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति के रास्ते नहीं बल्कि समझौते के रास्ते सत्ता में आया था, जो उपनिवेशवाद के गर्भ से जन्मा था और जिसने साम्राज्यवादी शक्तियों के आपसी अन्तरविरोधों का लाभ उठाकर तथा जन संघर्षों के साथ गद्दारी करके सत्ता हासिल की थी, जाहिर तौर पर वह जनता से हमेशा ही डरा रहता। ऐसे पूंजीपति वर्ग की सत्ता ''कम से कम पूंजीवादी जनवादी'' ही हो सकती थी। दूसरी बात यह कि, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद तो दुनिया के उन विकसित पूंजीवादी देशों में भी पूंजीवादी जनवाद की चौहद्दी लगातार सिकुड़ती चली गई थी, जो कभी ''ज्यादा से ज्यादा जनवादी'' थे। इतिहास के ऐसे दौर में, भारतीय पूंजीवादी जनवाद को आम जनता के लिए अतिसीमित जनवादी तो होना ही था।

तब भला इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि 1947 के बाद भारत के नये शासकों ने उस अफसरशाही और सैन्य तंत्र को, महज कुछ लेबल और मुलम्मा बदलकर, ज्यों का त्यों कायम रखा जो उन्हें अंग्रेजों से विरासत के तौर पर मिला था। कानून व्यवस्था भी वही बनी रही।

क्रान्तिकारियों के सामने हम कुछ ठोस कार्यभार प्रस्तुत कर रहे हैं!

वही आई.पी.सी. वही सीआर.पी.सी.। सिर पर जनवाद के मुकुट के तौर पर जो संविधान धरा गया, वह काफी हद तक 1935 के **'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट'** का ही एक संशोधित-परिष्कृत रूप था। साम्राज्यवादी दबाव-प्रभाव-लूट पर पर्दा डालते हुए यह संविधान भारत को ''सम्प्रभु जनवादी गणराज्य'' घोषित करता था। यह जनता को जो अतिसीमित जनवादी अधिकार देता था, उन्हें हड़प लेने के प्राविधान भी संविधान के भीतर ही मौजूद थे। इससे भी बड़ी बात यह कि औपनिवेशिक न्यायव्यवस्था और पुलिसतंत्र के चलते व्यापक मजदूर-किसान जनता के लिए अतिसीमित संवैधानिक अधिकारों का भी कोई खास मतलब नहीं था।

एक ध्यान देने की बात यह है कि **भारतीय संविधान के निर्माण की प्रक्रिया ही जनवाद-विरोधी थी।** संविधान बनाने वाली संविधान सभा का चुनाव सार्विक मताधिकार के आधार पर नहीं हुआ था। अंग्रेजी शासन के दौरान जिस लेजिस्लेटिव कौंसिल का चुनाव महज 15 फीसदी कुलीन आबादी के द्वारा किया गया था, उसे ही संविधान सभा का दर्जा दे दिया गया। 15 फीसदी आबादी के उन्हीं प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये संविधान को पूरे देश की जनता पर थोप दिया गया। संविधान निर्माण की यह प्रक्रिया खुद ही भारतीय पूंजीवादी जनवाद की न्यूनातिन्यूनता को साबित कर देती है।

इस संविधान के तहत जो चुनाव होते हैं, वे वस्तुतः जन प्रतिनिधियों के चुनाव होते ही नहीं। चुनाव सिर्फ इस बात का होता है कि आने वाले पांच वर्षों तक सरकार के रूप में ''शासक वर्गों की मैनेजिंग कमेटी'' का काम किस पार्टी या गठबंधन के लोग संभालेंगे। अब जब पूंजीवादी व्यवस्था का संकट बहुत बढ़ गया है और अर्थतंत्र के साथ ही शासन चलाने के ढंग-ढर्रे में भी बुनियादी बदलाव आ रहे हैं तो ''शासक वर्गों की मैनेजिंग कमेटी'' लगभग हर साल बदल जा रही है!

कितना खर्चीला चुनाव और कितना मंहगा ''जनवाद''!

शुरुआत इस सीधी-सादी सच्चाई से करें कि भारतीय जनतंत्र हर आम नागरिक को चुनने के साथ ही चुने जाने का हक वास्तव में देता ही नहीं। चुनाव में प्रचार के खर्चीले कारोबार को तो छोड़ ही दें, एक आम मजदूर, मंझोले स्तर तक का किसान या नौकरीपेशा मध्यवर्गीय आदमी जमानत की राशि तक नहीं जमा कर सकता। कोई सिरफिरा खाता-पीता आदमी यदि जमानत की राशि और प्रचार के मद में लाख-दो लाख रुपये जुटा भी लेता है तो जमानत जब्त करवाने कि लिए ही! चुनावी खेल के मुख्य खिलाड़ी वही हो सकते हैं, जो किसी बड़ी बुर्जुआ पार्टी के उम्मीदवार हों या फिर उसके द्वारा समर्थित हों। तमाम कागजी कानूनी सीमाओं के बावजूद बड़ी पार्टियां अपने एक-एक उम्मीदवार को दस-बीस लाख से लेकर पचास-साठ लाख तक चुनाव खर्च के मद में देती हैं। आज शराब माफिया, जंगल माफिया, खदान माफिया, ठेकेदार और डकैत विभिन्न पार्टियों के उम्मीदवार के रूप में चुनाव मैदान में उतर रहे हैं और अपनी निजी हैसियत के बूते एक-एक करोड़ रुपये तक खर्च कर रहे हैं। जाहिरा तौर पर संसद-विधानसभाओं में पहुंचकर इससे कई गुना अधिक रकम वे कमा लेते हैं। सबसे ताकतवर दलाल और कमीशनखोर आज संसद और विधान सभाओं में बैठे हुए हैं। देश में आज काले धन की समान्तर अर्थव्यवस्था सफेद धन की अर्थव्यवस्था से भी बड़ी हो चुकी है। राजनीति अपने आप में इस समान्तर अर्थव्यवस्था का एक मुख्य आधार है। पूंजीवादी सामाजिक आचरण के मानदण्डों से भी राजनीति आज काला धंघा मानी जाने लगी है और इसी काले धंधे में लिप्त लोग देश की करोड़ों जनता के भाग्य और भविष्य को तय करने वाली नीतियां बनाते हैं। नीतियां तो वास्तव में ''शासक वर्गों की मैनेजिंग कमेटी'' के रूप मे सरकार और नौकरशाही बनाती हैं और लागू भी वही करती हैं। संसद में बैठे लोग बहसबाजी करने और ठप्पा मारने का काम करते हैं। अलग-अलग पार्टियां शासक वर्गों के अलग-अलग हिस्सों और धड़ों के हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं। साथ ही इन पार्टियों के अलग-अलग एम.पी.-एम.एल.ए. इस या उस औद्योगिक या व्यापारी घरानों के हित साधने का भी काम करते हैं और उसकी फीस के तौर पर तगड़ी रकम वसूलते हैं। यह कमाई उनके सरकारी वेतन-भत्तों से अलग होती है। मंत्री, एम.पी., एम.एल.ए. के वेतन भत्तों-सुविधाओं की चर्चा हम आगे करेंगे। पहले चुनावी खर्चों की चर्चा।

1998 के लोकसभा चुनावों में सरकारी खर्च के आंकड़े आठ अरब रुपये के आसपास थे। इसबार लगभग 12 अरब रुपये के सरकारी खर्च का अनुमान है। यह पूरा खर्च जनता ही पेट काटकर और तरह-तरह से, (मुख्यतः परोक्ष करों के भुगतान के जरिए) चुकाती है। बाजार में हर चीज की कीमत कुछ और बढ़ जाती है, क्योंकि उसपर कुछ और टैक्स की रकम जुड़ जाती है। चुनावों का गैर सरकारी खर्च सरकारी खर्च से भी काफी अधिक होता है। सभी पूंजीपति घराने और बहुराष्ट्रीय कम्पनियां चुनावी पार्टियों को उनकी औकात के हिसाब से, और अपनी हितपूर्ति के हिसाब से, करोड़ों रुपये सफेद धन के रूप में देती हैं जिसे वे अपनी बैलेन्स शीट में दिखाते हैं। इससे कई गुनी अधिक रकम काले धन के रूप में दी जाती है। इसके अतिरिक्त सभी पार्टियों के उम्मीदवार छोटे-बड़े व्यापारियों, ठेकेदारों, सटोरियों, कमीशन खोरों, घूसखोर अधिकारियों तथा तरह-तरह के काले धन्धों वालों से भारी रकम वसूलते हैं और फिर ये सभी लुटेरे इसकी भरपाई जनता से ही किसी न किसी रूप में करते हैं।

आंकड़ों के अनुसार 1998 के लोकसभा चुनावों में देश के बड़े पूंजीपति घरानों ने चुनावी पार्टियों को दो अरब रुपये (घोषित रूप से सफेद धन के तौर पर) दिये थे। इस बार, जल्दी चुनाव के चलते इन घरानों ने एक अरब रुपये ही दिये हैं। पर चुनावी खर्च में कोई कमी नहीं है। कारण कि इस बार के चुनावों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियां काफी रकम खर्च कर रही हैं। 1990 से ही चुनावी प्रक्रिया में, विधानसभाओं के स्तर तक विदेशी पूंजी की भूमिका बढ़ गई है। उदारीकरण के दौर में लाजिमी तौर पर यह होना ही था। 1998 के चुनावों के पहले पूर्व प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर ने यह स्वीकार किया था कि **''इस बार के चुनाव में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा दिया जाने वाला धन बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा।''** 1999 के लोकसभा चुनावों में यह भूमिका 1998 से भी अधिक है। दूसरे इस बार के चुनावों में काले धन की भूमिका भी पहले हमेशा से बहुत अधिक है।

इस सन्दर्भ में लगे हाथों संसदीय वामपंथियों की भी चर्चा जरूरी है। संसदीय वामपंथियों को अभी हाल तक बड़े पूंजीपति घरानों से धन नहीं मिलता था। व्यापक गरीब और मेहनतकश आबादी फिर भी इन्हें ''औरों से बेहतर'' और ''अपना'' मानती थी, अतः वह अपनी कमाई के एक हिस्से से और श्रम से चुनावों में इनकी मदद करती थी। साथ ही बिना क्रान्ति की तकलीफ उठाये समाज की बेहतरी चाहने वाले सुधारवादी मध्यवर्गीय भलेमानस इनकी मदद करते थे। **भाकपा** को 1980 के दशक तक सोवियत सामाजिक साम्राज्यवादी अपने हितों की पूर्ति के लिए रकम देते थे। **माकपा** मुख्यतः अपनी कतारों और मध्यवर्गीय लोगों तथा कुलीन मजदूर आधार पर निर्भर रहती थी। आगे चलकर विभिन्न राज्यों में सरकारें चलाते हुए इन्होंने चुनावी खर्च जुटाने में राजकीय मशीनरी का भी तरह-तरह से इस्तेमाल किया। इस दशक की शुरुआत तक, भारतीय पूंजीपति वर्ग ने इन पार्टियों की उपयोगिता अच्छी तरह से समझ ली। पश्चिम बंगाल और केरल में सरकारें चलाते हुए, मुंह से वामपंथी नारे देते हुए उदारीकरण-निजीकरण की उन्हीं नीतियों को लागू करते हुए, केन्द्र में तीसरी ताकत का खेल खेलकर देवेगौड़ा और गुजराल सरकार के पाये बनकर तथा अब साम्प्रदायिक फासीवाद का विरोध करने के लिए कांग्रेस का दामन थामकर संसदीय वामपंथी पार्टियों ने शासक वर्गों के सामने अपनी विश्वसनीयता और उपयोगिता पूरी तरह से सिद्ध कर दी है। बंगाल में ज्योति बसु की आर्थिक नीतियों से देशी-विदेशी थैलीशाह एकदम खुश हैं। वे इस बात से भी खुश हैं कि मजदूर आंदोलनों की धार कुन्द करके ये नकली वामपंथी ''नव उदारवादी'' आर्थिक नीतियों पर अमल का रास्ता बड़ी सफाई से साफ कर रहे हैं। इसलिए अब इन संसदीय वामपंथियों को भी थैलीशाहों से कुछ दान-दक्षिणा चुनावी फण्ड में मिलने लगी है।

यह तो हुई चुनावी खर्चों की बात। अब मुख्तसर सी चर्चा इस बात की भी कर ली जाए कि इन चुनावों से बहाल जनवादी व्यवस्था जनता के लिए कितनी महंगी साबित होती है।

गांधी ने 2 मार्च 1930 को तत्कालीन अंग्रेज वायसराय को लिखे गये अपने लम्बे पत्र में ब्रिटिश शासन को सबसे महंगी व्यवस्था बताते हुए उसे जनविरोधी और अन्यायी करार दिया था। उन्होंने लिखा था : **''जिस अन्याय का उल्लेख किया गया है, वह उस विदेशी शासन को चलाने के लिए किया जाता है, जो स्पष्टतः संसार का सबसे मंहगा शासन है। अपने वेतन को ही लीजिए। यह प्रतिमाह 21,000 रुपये से अधिक पड़ता है, भत्ते आदि अलग से। आपको 700 रुपये प्रतिदिन से अधिक मिलता है, जबकि भारत में प्रतिव्यक्ति दैनिक औसत आमदनी दो आने है। इस प्रकार आप भारत की औसत आमदनी से 5 हजार गुने से भी अधिक ले रहे हैं। वायसराय के बारे में जो सच है, वह सारे आम शासन के बारे में है।''**

गांधी द्वारा उठाये गये इस सवाल की कसौटी पर जब हम आज के भारत की संसदीय शासन प्रणाली को कसते हैं तो पाते हैं कि **यह औपनिवेशिक शासन से भी कई गुनी अधिक महंगी है।** वर्तमान वित्तीय वर्ष के बजट में दिये गये तथ्यों और आंकड़ों की जुबानी सच्चाई को जानने की थोड़ी कोशिश की जाये। औसत भारतीय आदमी की दैनिक आय लगभग 29 रुपये 50 पैसे है। दूसरी ओर देश के राष्ट्रपति पर रोज 4 लाख 14 हजार रुपये खर्च होते हैं, जो औसत भारतीय की दैनिक आय से 14033 गुना अधिक है। इसी तरह प्रधानमंत्री कार्यालय पर प्रतिदिन लगभग 2 लाख 38 हजार रुपये खर्च होते हैं जो प्रति व्यक्ति दैनिक औसत आय से 7794 गुना अधिक है। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल पर दैनिक खर्च लगभग 15 लाख रुपये है।

और आगे बढ़ें। संसद की एक घण्टे की कार्यवाही चलने पर लगभग 16 लाख रुपये खर्च होते हैं। राज्य विधानसभाओं का खर्च भी इससे कम नहीं है। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार और मध्य प्रदेश की विधानसभाओं की कार्यवाही चलने पर क्रमशः 14 लाख, 11 लाख, साढ़े 12 लाख और 13 लाख रुपये प्रति घण्टे खर्च होते हैं। बारहवीं लोक सभा की कार्यवाही एक बार जब 13 दिनों तक हंगामे और शोर-शराबे के कारण अस्त-व्यस्त रही तो इससे 15 करोड़ रुपये बर्बाद हो गये। **क्या यह एक अहम सवाल नहीं है कि बहसबाजी के इन अड्डों पर, इन भटियारखानों पर, इन चण्डूखानों पर हर वर्ष जनता की गाढ़ी कमाई के अरबों-खरबों क्यों खर्च हों ?**

एक संसद सदस्य को लगभग चार हजार रुपये मासिक तनख्वाह मिलती है और फिर ढाई हजार रुपये मासिक पेंशन मिलती है। पर उसकी वास्तविक आय इससे कई गुनी अधिक बैठती है। सदन की बैठक चलते समय या विभिन्न संसदीय समितियों की बैठकों में भाग लेने पर संसद सदस्य को चार सौ रुपये दैनिक भत्ता मिलता है। सदन की बैठक नहीं चलती है तो मतदाताओं से सम्पर्क के लिए उन्हें 8 हजार रुपये मासिक निर्वाचन क्षेत्र भत्ता मिलता है। कार्यालय चलाने के लिए उसे ढाई हजार रुपये मासिक तथा एक-दो सहायक रखने के लिए 6 हजार रुपये मासिक मिलते हैं। प्रत्येक संसद सदस्य को एक-एक कम्प्यूटर के अतिरिक्त फर्नीचर, बंगले, कार, एयर कण्डीशनर आदि की सुविधाएं मिलती हैं। उन्हें दो फोन (एक राजधानी में, एक निजी आवास पर) बिना किराये के मिलते हैं। संसद सदस्य के लिए प्रति वर्ष एक लाख स्थानीय कॉल या इसी कीमत के एस.टी.डी. कॉल मुफ्त होते हैं। संसद के अधिवेशन या संसदीय समितियों की बैठकों के लिए आने-जाने पर हवाई जहाज या रेल का किराया उन्हें नहीं देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त भी उन्हें सपरिवार यात्रा पर किराये में भारी छूट की सुविधा प्राप्त है। साथ ही प्रत्येक संसद सदस्य प्रति वर्ष 32 हवाई यात्राएं मुफ्त कर सकता है। यह तो हुई सरकारी सुविधाओं और कमाई की बात। शेष दूसरे रास्तों से इससे कई गुनी अधिक कमाई हर ''जन सेवक'' कर लेता है और अपनी आने वाली पीढ़ियों का भविष्य सुनिश्चित कर जाता है।

मेहनतकश अवाम के सामने हम कुछ व्यावहारिक नारे प्रस्तुत कर रहे हैं!

चालू बजट के अनुसार विशिष्ट व्यक्तियों की सुरक्षा पर इस वर्ष 1 अरब 61 करोड़ रुपये खर्च होने हैं। यह सिर्फ एस.पी.जी. और एन.एस.जी. सुरक्षा दस्तों का खर्च है। वाहन आदि के खर्च अलग से। मंत्रिपरिषद की सुरक्षा पर चालू बजट में इस वर्ष 50 करोड़ 52 लाख रुपये खर्च की व्यवस्था है। मंत्रियों की सुरक्षा पर होने वाला यह खर्च सरकार चलाने के कुल खर्च से डेढ़ गुना अधिक है। **जनता के चुने हुए इन प्रतिनिधियों को आखिर खतरा किससे है? कहीं ''अपनी'' जनता से ही तो नहीं?**

ध्यान रहे कि हम भारतीय जनतंत्र के जिन खर्चों की बात कर रहे हैं, वह चुने हुए ''जन प्रतिनिधियों'' पर होने वाला खर्च है। विराट नौकरशाही तंत्र पर, पुलिस विभाग और अर्द्धसैनिक बलों पर तथा फौजी मशीनरी पर सालाना खरबों-खरब रुपयों का जो घोर अनुत्पादक खर्च होता है, वह इसे अलग है।

जो पूंजीवादी लुटेरों के वफादार कुत्ते हैं वे भौंकने, काट खाने और चौकीदारी करने की पूरी कीमत वसूलते हैं। और पूंजीपति ये कीमत खुद नहीं देते, बल्कि जनतंत्र के नाम पर उसी जनता से वसूलते हैं, जिसकी हड्डियों से वे अपना मुनाफा निचोड़ते हैं।

विकल्प के बारे में कुछ बातें: इतिहास के कुछ उदाहरण

इस बेहद खर्चीली चुनावी नौटंकी को, जनता की छाती पर भारी चट्टान की तरह लदी पूंजीवादी संसदीय प्रणाली को हम सिरे से खारिज करते हैं। क्या इससे कम भी कुछ हो सकता है? हमारा दावा है कि ऊपर बयान की गई नंगी सच्चाइयां जब 'बिगुल' जैसे अखबारों और कर्मठ क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं के जरिए आम मेहनतकश जनता के दो प्रतिशत हिस्से तक भी पहुंच जायेंगी तो चन्द वर्षों के भीतर ही वे व्यापक आबादी तक पहुंच जायेंगी। और यदि लोगों को यह भी बताया जा सके कि इस पूंजीवादी ''जन प्रतिनिधित्व'' की धोखाधड़ी भरी प्रणाली का विकल्प है और वह सम्भव है, तो फिर वह दिन दूर नहीं रह जायेगा जब मेहनतकशों की करोड़ों भुजाएं एक साथ उठेंगी और इस व्यवस्था को उठाकर हिन्द महासागर में फेंक देंगी।

अतः विकल्प पर भी चर्चा जरूरी है। हालांकि यह चर्चा यहां संक्षेप में ही की जा सकती है।

पूंजीवादी संसदीय व्यवस्था को सिरे से खारिज करने का मतलब प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं और चुनाव के सिद्धान्त को खारिज करना नहीं, बल्कि सच्चे अर्थों में उसे बहाल करना है, जैसे कि लेनिन ने कहा था, **''प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं के बिना जनवाद की, सर्वहारा जनवाद की भी कल्पना हम नहीं कर सकते, लेकिन संसदीय व्यवस्था के बिना जनवाद की कल्पना हम कर सकते हैं और हमें करनी चाहिए''** *(राज्य और क्रान्ति)।*

महंगे और खर्चीले पूंजीवादी चुनावों के प्रहसन और संसदीय प्रणाली के फर्जी प्रतिनिधिमूलक चरित्र का विकल्प इतिहास में सर्वहारा क्रान्तियां प्रस्तुत कर चुकी हैं। इनमें से तीन महान ऐतिहासिक उदाहरणों की हम संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

1871 में पेरिस में मजदूरों ने विद्रोह करके पहली सर्वहारा सत्ता की स्थापना की जो पेरिस कम्यून नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। कम्यून के प्रतिनिधि एकदम आम मेहनतकश थे जिन्हें पेरिस के अलग-अलग मुहल्लों-वार्डों की आम जनता ने चुनकर भेजा था। जन प्रतिनिधियों का यह चुनाव बिना किसी आने-कौड़ी के खर्च के अलग-अलग आम सभाओं में सम्पन्न हुआ। कम्यून के प्रतिनिधि न सिर्फ कानून बनाते थे, बल्कि उन्हें लागू भी करना उन्हीं का काम था। यानी वह गपबाजी का अड्डा नहीं, बल्कि एक ''कार्यशील'' संस्था थी। कम्यून के सदस्यों की तनख्वाह औसत कुशल मजदूर की तनख्वाह के बराबर थी। कई कम्यून सदस्य कम्यून की बैठकों में भाग लेने के बाद मेहनत मजूरी का काम भी करते थे। कई पदों की जिम्मेदारी उठाने वाले कम्यून-सदस्यों को वेतन सिर्फ एक पद का ही मिलता था। कम्यून सदस्यों का चुनाव करने वाले मतदाताओं को कभी भी उन्हें वापस बुलाने का अधिकार प्राप्त था। मानव इतिहास में पहली बार पेरिस कम्यून ने यह संभव कर दिखाया कि ''हुक्म चलाने'' के तमाम तरीकों को खत्म किया जा सकता है और सारे काम को सर्वहारा वर्ग के (शासक वर्ग के रूप में) ऐसे संगठन तक सीमित किया जा सकता है जो ''मजदूरों, मैनेजरों और मुनीमों'' को पूरे समाज की तरफ से मजदूरी पर रखे। कम्यून ने पुरानी नौकरशाही मशीनरी को ध्वस्त करके नई मशीनरी का निर्माण शुरू किया जिसमें ज्यादातर काम चुने हुए जनप्रतिनिधियों के हाथों में था। वेतनभोगी प्रबंधक व अन्य अधिकारियों को आम मजदूरों जितना ही वेतन मिलता था और उन्हें विशेष सुविधाएं नहीं हासिल थीं। कम्यून के जनप्रतिनिधियों को न तो एस.पी.जी. की जरूरत थी और न ही विशेष भत्तों-सुविधाओं की। समाज के दुश्मनों से आंतरिक और बाह्य सुरक्षा पूरी जनता की जिम्मेदारी थी। पेरिस कम्यून के सैन्य दस्ते-'नेशनल गार्डस' का स्वरूप भी जनवादी था। आगे चलकर इस सेना में भी वेतन आदि की समानता का सिद्धान्त लागू होना था, पर इसी बीच यूरोपीय पूंजीवाद की सम्मिलित शक्ति के हाथों कम्यून पराजित हो गया और उसे कुचल दिया गया। **अपने छोटे से जीवन काल में कम्यून ने सर्वहारा जनवाद की एक नायाब मिसाल पेश की जिसे अक्टूबर क्रान्ति के बाद सोवियतों के प्रयोग ने आगे बढ़ाया।**

यूं तो रूस के गांवों की पारम्परिक पंचायत व्यवस्था के रूप में सोवियतें शताब्दियों पहले से मौजूद थीं लेकिन 1905 की रूसी क्रान्ति के दौरान एक अनूठे जन संगठन के रूप में इनका पुनर्जन्म हुआ। क्रान्ति के दौरान तमाम कारखानों में मजदूरों की प्रतिनिधि सभाओं के रूप में, छोटे-छोटे शहरों में आम जनता की प्रतिनिधि सभाओं के रूप में और यहां तक कि सेना और नौसेना के सैनिकों की प्रतिनिधि सभाओं के रूप में सोवियतों का गठन हुआ था। इस क्रान्ति के दौरान, कुछ समय के लिए कई शहरों में इन सोवियतों ने अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार का काम सम्हाल लिया था और ये शहर जारशाही से मुक्त छोटे-छोटे ''स्थानीय जनतंत्र'' जैसे बन गये थे। दिसम्बर 1905 के भयानक कत्लेआम के बाद इन सोवियतों को जारशाही ने कुचल डाला, पर इस अल्पजीवी प्रयोग ने मेहनतकश जनता के सस्ते सर्वसुलभ जनतंत्र का एक माडल तो पेश कर ही दिया था।

फरवरी, 1917 में जारशाही का तख्ता पलटने के बाद, अस्थायी सरकार के नग्न प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ शासन के खिलाफ, सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति जब फिर आगे बढ़ने के लिए कमर कस रही थी तो मार्च के महीने में एक बार फिर मजदूरों किसानों और सैनिकों की सोवियतें नये सिरे से, उठ खड़ी हुईं। जून 1917 में इन सोवियतों का पहला अखिल रूसी सम्मेलन हुआ, जिसमें बोल्शेविक पार्टी के अत्यन्त अल्पमत में होने के बावजूद लेनिन ने **''सारी सत्ता सोवियतों को''** का नारा दिया। सोवियतों के रूप में, बुर्जुआ संसदीय प्रणाली की जगह लेनिन पेरिस कम्यून के ही नक्शेकदम पर जन प्रतिनिधित्व की एक नई व्यवस्था कायम करने के पक्षधर थे, जो सस्ता व सर्वसुलभ हो, जिसमें नीचे से ऊपर तक निर्णय की ताकत आम मेहनतकशों के हाथों में हो, जिसमें जन प्रतिनिधि हर-हमेशा अपने निर्वाचकों के प्रति जवाबदेह हों और इस तरह जो सर्वहारा जनवाद का मॉडल हो। स्वयं लेनिन के शब्दों में **''जन साधारण की बहुसंख्या की राजनीतिक चेतना तथा संकल्प के स्तर, उसके अपने अनुभव के स्तर के साथ कदम मिलाते हुए आगे के विकास को क्रमिक, शांतिपूर्ण, चिंतायुक्त बनाने का यही एकमात्र मार्ग था... इसका अर्थ...(था) देश के प्रशासन तथा आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण को पूरी तरह मजदूरों और किसानों के हाथों में सौंपना, जिनका प्रतिरोध करने का कोई साहस नहीं कर सकेगा और जो शीघ्र अनुभव से, अपने निजी अमल से जमीन, उपज और अनाज का सही ढंग से वितरण करना सीख जायेंगे।''**

1917 की अक्टूबर क्रान्ति के बाद बोल्शेविकों के नेतृत्व में सर्वहारा सत्ता कायम हुई तो ''सारी सत्ता सोवियतों को'' के नारे को तत्काल अमली जामा पहनाया गया। सोवियतों का स्वरूप गांवों, शहरों, काउण्टियों और प्रान्तों से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक किसानों, मजदूरों और सैनिकों की चुनी हुई विशाल प्रतिनिधि सभाओं का था। बुनियादी स्तरों पर निर्वाचक मण्डल बिना किसी खर्च या तामझाम के अपने प्रतिनिधि चुनते थे और फिर वे प्रतिनिधि ऊपर के निकायों के लिए क्रमशः अपने प्रतिनिधि चुनते थे।

रूसी क्रान्ति के चश्मदीद गवाह अमेरिकी पत्रकार रीस विलियम्स ने अपनी पुस्तक **'अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन'** में लिखा है, **''सोवियतें जनता के दैनिक अनुभवों का अंग बन गई थीं। इनके द्वारा इन्होंने अपनी हार्दिक आकांक्षाएं पूरी की थीं। इन सोवियतों को चुनने वाले लोग मेहनतकश और शोषित जनसाधारण थे। बुर्जुआ वर्ग को वर्जित किया गया था। चुनाव की सारी नौकरशाही औपचारिकताएं खत्म कर दी गई थीं। जनसाधारण खुद चुनाव की व्यवस्था और तिथि निर्धारित करते थे। उन्हें किसी भी चुने हुए व्यक्ति को कभी भी वापस बुलाने का पूरा अधिकार और पूरी आजादी थी।''** लेनिन के शब्दों में **''इन सोवियतों के हाथ में केवल कानून बनाने और उन्हें लागू करने के अधिकार ही नहीं थे, बल्कि सोवियतों के सभी सदस्यों के मार्फत कानूनों को प्रत्यक्ष रूप से लागू करने के अधिकार भी थे। ताकि धीरे-धीरे समूची आबादी विधायी प्रकार्य और राजकीय प्रशासन के संचालन में पदार्पण कर सके।''**

आगे चलकर जब रूस में समाजवादी व्यवस्था का लगातार कम्युनिज्म की दिशा में अग्रवर्ती विकास रुक गया और फिर वहां पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो गई तो सोवियतें भी एक जड़ भ्रष्ट नौकरशाही तंत्र बन गईं। लेकिन इतना तय है कि समाजवादी सोवियत संघ ने अल्पकाल में प्रगति और समतामूलक समाज बनाने के जो अद्भुत कीर्तिमान स्थापित किये थे उसका एक बुनियादी कारण सोवियतों के माध्यम से कायम वह सर्वहारा जनवाद था जिसने जीवन के हर क्षेत्र में व्यापक आम जनता की पहलकदमी और सर्जनात्मकता को निर्बन्ध कर दिया था।

जनसाधारण के हाथों में राजनीतिक सत्ता सौंपने और सर्वथा नये किस्म की प्रतिनिधिमूलक विधायी एवं कार्यकारी संस्थाओं के निर्माण के मामले में चीनी क्रान्ति के बाद हुए प्रयोग और अधिक उन्नत स्तर के थे। नीचे से लेकर राष्ट्रीय जन कांग्रेस के प्रतिनिधियों तक चुनाव की प्रक्रिया को तो 1949 की जनवादी क्रान्ति के बाद ही सस्ता और सुगम बना दिया गया था। पूंजी की भूमिका पूरी तरह समाप्त हो चुकी थी। 1958 में 'महान अग्रवर्ती छलांग' आन्दोलन के साथ ही जब समाजवादी संक्रमण ने आगे डग भरे

(पेज आठ पर जारी)

क्रान्तिकारी विकल्प के निर्माण के लिए आगे बढ़ो!

(पेज 7 से आगे)

तो जन-कम्यूनों का निर्माण पूरे चीन में एक व्यापक मुहिम के रूप में शुरू हुआ और जल्दी ही चीन की 50 करोड़ किसान आबादी 26,000 कम्यूनों में संगठित हो गई। पेरिस कम्यून के अमर नायक सर्वहारा जनवाद का जो माडल पेश करना चाहते थे, चीन के जन-कम्यूनों ने उन्हें साकार कर दिखाया। ग्राम रूट स्तर पर इन कम्यूनों ने जनवाद को लागू किया। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक फैसले कम्यून के सदस्य लेते थे। सस्ते, स्थानीय विधायी एवं कार्यकारी संस्था का यह जनवादी ढांचा व्यापक जनता की पहलकदमी व सर्जनात्मकता को जाग्रत करने के साथ ही सर्वहारा वर्ग की केन्द्रीय सत्ता के व्यापक आधार का कार्य करता था। आगे चलकर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान कम्यूनों और सोवियतों के प्रयोगों को ही आगे विस्तार देते हुए क्रान्तिकारी कमेटियों का गठन किया गया। इनके पीछे माओ का तर्क था कि पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने के लिए शासन और निर्णय की प्रक्रिया में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी ज्यादा से ज्यादा कायम करके सर्वहारा राज्य के आधारों को विस्तारित करना आवश्यक है।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि माओ की मृत्यु के बाद चीन में सत्तासीन हुई नई पूंजीवादी सत्ता ने पहला काम यह किया कि क्रान्तिकारी कमेटियों को गैरकानूनी करार दे दिया। इसके कुछ ही वर्षों बाद गांवों और कारखानों से जन कम्यूनों को भंग करने की भी शुरुआत हो गई। ऐसा नये शासकों के लिए जरूरी था क्योंकि जन प्रतिनिधित्व की सर्वहारा संस्थाओं को भंग किये बिना वे निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों को लागू ही नहीं कर सकते थे।

पेरिस कम्यून, सोवियत और चीन के जन कम्यून तथा क्रांतिकारी कमेटियां—इन तीन ऐतिहासिक उदाहरणों की अति संक्षिप्त चर्चा हमने यहां महज यह स्पष्ट करने के लिए की है कि मंहगी, भ्रष्ट और धोखाधड़ी से भरपूर पूंजीवादी संसदीय प्रणाली का विकल्प महज एक किताबी बात नहीं है, बल्कि सर्वहारा क्रान्तियों के गुजरे हुए प्रारम्भिक चक्र के दौरान ही मेहनतकश जनता इन्हें धरती पर साकार भी कर चुकी है।

हमें इनसे सबक लेना होगा। अतीत के अनुभवों के आधार पर सर्वहारा जनवाद के और अधिक उन्नत मॉडल सर्वहारा क्रान्तियों का अगला चक्र अवश्य ही प्रस्तुत करेगा।

क्रांतिकारियों का सपना, गांधी का पंचायती राज और आज की पंचायतों की वास्तविकता

भारत में गदर पार्टी के क्रान्तिकारियों से लेकर बिस्मिल, अशफाक और फिर भगतसिंह और उनके साथियों ने ब्रिटिश सत्ता से मुक्ति के बाद भारत के गांवों में सदियों से मौजूद ग्राम पंचायतों को ही प्रेरणा स्रोत मानकर पंचायती शासन-प्रणाली पर आधारित जनवादी व्यवस्था को लागू करने का सपना देखा था। भारतीय पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि गांधी ने भी सस्ती, सर्वसुलभ और आम जन की प्रत्यक्ष भागीदारी वाली पंचायती शासन-प्रणाली की बात की थी, पर पंचायती राज का उनका सपना सोवियतों या कम्यूनों की तरह व्यावहारिक न होकर, काल्पनिक था और अतीतजीवी था। गांधी के पंचायती राज में ग्राम स्वराज की ऐसी परिकल्पना थी जिसमें गांव के स्तर पर आम आबादी निजी मालिकाने के खेतों या सहकारी व सामुदायिक खेतों और कुटीर उद्योगों में जरूरत का उत्पादन करती, आपसी सहकार से एक-दूसरे की जरूरतें पूरी करती, सामूहिक तौर पर फैसले लेती और सामुदायिक जीवन बिताती। गांधी का ग्राम स्वराज्य का सिद्धान्त आधुनिक मशीनों को तथा इंसान की सुविधा भोगी लिप्साओं को ही पूंजीवादी अन्याय का मूल कारण मानने पर आधारित था। गांधी आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों के अतीत में वर्तमान की समस्याओं का समाधान ढूंढ रहे थे लेकिन उनके पास इसका कोई ठोस नक्शा नहीं था कि देश की केन्द्रीय राज्य सत्ता के साथ ग्राम पंचायतों का सम्बन्ध क्या होगा? ध्यान देने की बात यह भी है कि जब देशी उद्योगों की बात आती थी तो गांधी वहां मजदूरों की पंचायत की बात नहीं करते थे। वहां वे ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त देते थे, मजदूरों-पूंजीपतियों के बीच वर्ग सहयोग का प्रचार करते थे।

बावजूद इसके, गांधी के पंचायती राज के हवाई सिद्धान्त ने व्यापक किसान आबादी को आकृष्ट किया, क्योंकि इसमें उसने अपने जनवादी राज्य की झलक देखी। गांधी के पंचायती राज के नारे ने व्यापक जनता को राष्ट्रीय आंदोलन के बुर्जुआ नेतृत्व—कांग्रेस के पीछे ले जाकर खड़ा करने में अहम भूमिका निभाई। **यह भारतीय पूंजीपति वर्ग की उस समय की जरूरत थी। और स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जब राज्यसत्ता सम्हालने का व्यावहारिक प्रश्न सामने आया तो गांधी के पंचायती राज के हवाई मंसूबों का झुनझुना फेंककर नेहरू, पटेल और कांग्रेसी नेतृत्व ने अपनी राज्यसत्ता का गठन करते हुए ब्रिटिश संवैधानिक शासकीय तंत्र और विधि-व्यस्था को ज्यों का त्यों अपना लिया।** 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट 1935' के मूल सूत्रों को ही विस्तारित करके भारतीय संविधान बनाया गया, एक ऐसी संविधान सभा द्वारा जो 15 प्रतिशत लोगों का प्रतिनिधित्व करती थी। पश्चिमी पूंजीवादी देशों से ''जनवाद'' का 'फ्रेंड' सौखाकर भारतीय पूंजीपति वर्ग ने सार्विक मताधिकार तो दिया, पर इस आधार पर भारत की गरीब जनता को सिर्फ यह अधिकार मिला कि वह हर पांच साल पर ठप्पा मारकर यह तय करे कि कौन सी पार्टी शासक वर्गों की मैनेजिंग कमेटी के रूप में उसपर दमन का पाटा चलाने का काम करेगी! इस संसदीय जनवाद का नक्शा आज हमारे सामने है। ऊपर हमने इसकी चर्चा भी की है।

यूँ कहने के लिए पंचायती राज्य को संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के रूप में पूंजीवादी शासन- व्यवस्था के एक आभूषण के रूप में शामिल कर लिया गया। गांवों में ग्राम पंचायतों का गठन भी हुआ, जिनके हाथों में छोटे-मोटे स्थानीय मामलों पर फैसले लेने के अतिरिक्त वास्तव में शासन चलाने का कोई अधिकार नहीं था।

संसद-विधानसभाओं में इन पंचायतों के प्रतिनिधि नहीं जाते थे। उनका चुनाव अलग से होता था।

यह पूंजीवादी जनवाद वास्तव में धनपतियों के लिए ही जनवाद था। आम जनता के ऊपर यह शासक वर्गों की तानाशाही का उपकरण था। ग्राम पंचायतों की असलियत उजागर होने के साथ ही आम जनता भी धीरे-धीरे उनके प्रति उदासीन होती गई और ये संस्थाएं भी गांव के नये-पुराने भूस्वामियों और अन्य धनिक वर्गों के हाथों का खिलौना बनकर रह गईं। ग्राम सभाओं से लेकर ब्लॉक प्रमुख स्तर तक के चुनाव संसद विधानसभाओं के चुनावों की सीढ़ियां और पूर्वाभ्यास बनकर रह गये।

हाल के वर्षों में सत्ता के विकेन्द्रीकरण के नाम पर उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और कुछ अन्य राज्यों में पंचायती राज का नया शिगूफा फिर से उछला है। **यह एक गहरी साजिशाना चाल है।** वास्तव में लाखों राज्य कर्मचारियों की छंटनी करने के लिए और समाज कल्याण की कुछ जिम्मेदारियों से पीछा छुड़ा लेने के लिए कई विभागों की जिम्मेदारी ग्राम पंचायतों को सौंप दी गयी है। इन मदों में नाम मात्र के अनुदान सरकार देगी। बाकी संसाधन पंचायतें स्वयं जुटायेंगी और दिहाड़ी पर भरती लोगों के जरिए प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवार कल्याण, भूमि विकास, सिंचाई आदि के कार्यों को अंजाम दिया जायेगा।

पंचायती राज के इस नये शिगूफे के पीछे एक और कारण है। पिछली आधी सदी की पूंजीवादी नीतियों के चलते गांवों में नये पूंजीवादी भूस्वामियों-कुलकों की एक नई लुटेरी और निरंकुश जमात पैदा हुई है। बहुतेरे पुराने सामंती भूस्वामी भी अपना चरित्र बदलकर इनकी कतारों में शामिल हो गये हैं। धन बल और बाहुबल के सहारे वास्तव में यही आबादी आज पंचायतों में हावी है। यह जमात देशव्यापी लूट में साम्राज्यवादियों, पूंजीपतियों का छोटा हिस्सेदार है पर गांव-गांव तक फैले होने के कारण यह व्यवस्था का एक मजबूत पाया है। पूंजीवादी चुनाव-प्रणाली में भी इसकी विशेष भूमिका होती है। नई पंचायती व्यवस्था के जरिए गांवों के इन्हीं सम्पत्तिशाली तबकों को नये अधिकार और लूट के नये रास्ते मुहैया करने की कोशिश की गई है।

पंचायतों की इस चर्चा के पीछे यहां हमारा एक विशेष मकसद है। हम कहना यह चाहते हैं कि आज हमारे देश में पंचायतों का जो चरित्र है, उसे देखते हुए वर्तमान पूंजीवादी संसदीय प्रणाली के विकल्प के तौर पर कम से कम मौजूद पंचायतों पर आधारित किसी प्रणाली का विकल्प तो कदापि नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। ''सारी सत्ता सोवियतों को'' की तर्ज पर यहां ''सारी सत्ता पंचायतों को'' का नारा नहीं दिया जा सकता। पंचायतों का पूंजीवादीकरण करके व्यवस्था इन्हें आज अपने अनुरूप ढाल चुकी है।

रूस की पुरानी पंचायतों (सोवियतों) का 1905 की क्रान्ति के दौरान आम जनता की पहल पर क्रान्तिकारी पुनर्जन्म हुआ था और फिर वे सर्वहारा जनवाद की बुनियादी प्रतिनिधिमूलक संस्था बनी थीं। ध्यान रहे कि सोवियत संघ में पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बाद ये सोवियतें फिर नई बुर्जुआ राज्यसत्ता का एक नौकरशाहाना पुर्जा बन गई थीं। अतः स्पष्ट है कि ऊपरी ढाँचा नहीं, बल्कि उसका अन्दरूनी तत्व महत्वपूर्ण होता है।

आज हमारे देश में मौजूद पंचायतें पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा अंगीकृत होकर संसदीय प्रणाली की ही भांति पूंजीवादी जनतंत्र की नौटंकीबाजी का उपकरण बन चुकी हैं। संसद व विधानसभाओं के साथ ही पंचायती राज से भी आम जनता का मोहभंग हो चुका है। **हम व्यापक मेहनतकश अवाम का आह्वान करते हैं कि पूंजीवादी संसदीय प्रणाली के साथ ही पंचायती राज के सरकारी झुनझुने को भी खारिज कर दे।**

पूंजीवादी जनवाद का विकल्प क्या है? —जनता के सामने यह स्पष्ट करना होगा।

हमारी यह स्पष्ट धारणा है कि पूंजीवादी जनवाद का विकल्प प्रस्तुत करने के प्रश्न को भी हमें स्वतःस्फूर्तता पर नहीं छोड़ देना चाहिए। आज यह सोचना गलत होगा कि आने वाले दिनों में जनता जब उठ खड़ी होगी तो अपना विकल्प उसी तरह खड़ा कर लेगी जिस तरह 1905 की रूसी क्रान्ति के दौरान जनता ने सोवियतों को क्रान्तिकारी नवजीवन देकर अपनी क्रान्तिकारी जनवादी सत्ता का मॉडल प्रस्तुत किया था, जो कुचल दिये जाने के 12 वर्षों बाद 1917 में फिर उठ खड़ा हुआ था।

आज इतिहास की ठोस मिसालें हमारे सामने हैं। यह सही है कि विकल्प को ठोस शक्ल तो जनता ही देती है, पर इतिहास की समझ के आधार पर जनता के सामने विकल्प की एक दिशा—एक आम रूपरेखा प्रस्तुत करने का काम क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी शक्तियों का ही बनता है—जनता की हिरावल पांतों का ही बनता है।

आज से पांच वर्षों पहले मेहनतकशों, छात्रों-युवाओं, बुद्धिजीवियों और स्त्रियों के कुछ क्रान्तिकारी जनसंगठनों ने उदारीकरण- निजीकरण की नीतियों के विरुद्ध क्रान्तिकारी प्रचार की कार्यवाई करते हुए जब **क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान** की शुरुआत की थी, तो जनसंघर्ष संगठित करने के अन्य नारों के साथ ही उन्होंने यह भी आह्वान किया था कि पूंजीवादी जनतांत्रिक संस्थाओं को खारिज करते हुए आम मेहनतकश जनता को गांवों में, शहरों में, औद्योगिक बस्तियों में लोक स्वराज्य कमेटियों का निर्माण करना होगा। '**बिगुल**' ने इस आह्वान का पुरजोर समर्थन किया था।

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान आज भी जारी है। **लोक स्वराज्य कमेटी** की जगह आज **लोक स्वराज्य पंचायत** शब्दावली का इस्तेमाल किया जा रहा है जो अन्तर्वस्तु की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है।

लोक स्वराज्य पंचायत की धारणा से पहले क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान के पीछे की सोच पर थोड़ी चर्चा है।

निजीकरण उदारीकरण की नीतियों के दौर में कुछ एन.जी.ओ., कुछ गांधीवादी संस्थाओं और कतिपय दिग्भ्रमित क्रान्तिकारियों द्वारा दिये जा रहे 'स्वदेशी' के नारे के समान्तर क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा दिया गया था। इसके पीछे की सोच यह है कि आज सवाल सिर्फ विदेशी पूंजी की लूट के खिलाफ लड़ने का ही नहीं, बल्कि देशी पूंजी की लूट के खिलाफ भी साथ-साथ लड़ने का है क्योंकि मुनाफे की बंदरबांट की आपसी खींचतान के बावजूद भारत के सभी छोटे-बड़े पूंजीपति अपने को साम्राज्यवादी पूंजी के साथ नत्थी कर चुके हैं। पूंजी के भूमण्डलीकरण के दौर में उनके सामने और कोई भी रास्ता नहीं है। गांवों के पूंजीवादी भूस्वामी, बड़े व्यापारी व अन्य लुटेरे परजीवी वर्ग इस प्रतिक्रियावादी गंठजोड़ के अन्य पार्टनर हैं। कुल मिलाकर यह कि **मेहनतकश जनता को विदेशी पूंजी की जकड़बन्दी से मुक्ति देशी पूंजी की जकड़बंदी से मुक्ति के साथ ही मिलेगी। वास्तविक आजादी उसे तब मिलेगी जब वह मुनाफे और बाजार के लिए उत्पादन की पूरी व्यवस्था को नष्ट करके एक ऐसी व्यवस्था की बुनियाद रखे जिसमें उत्पादन सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो और पैदावारों का समानतापूर्ण बंटवारा हो। यह तभी हो सकता है जब उत्पादन, राजकाज और समाज के ढांचे पर, हर तरफ से, हर स्तर पर, उत्पादन करने वालों का नियंत्रण हो—फैसले लेने और लागू करवाने की पूरी ताकत उनके हाथों में केन्द्रित हो। यही सच्ची, वास्तविक जनवादी व्यवस्था होगी।**

जब हम लोक स्वराज्य पंचायत का नारा दे रहे हैं, तो हमारे दिमाग में जनप्रतिनिधित्व की ऐसी ही संस्थाओं की एक तस्वीर है। आइये, एक ऐसी व्यवस्था और शासनप्रणाली के बारे में सोचें, जहां गांव-गांव के स्तर पर, कारखानों के स्तर पर और शहरी मुहल्लों के स्तर पर किसान, मजदूर और आम मध्यवर्गीय जनता अपनी पहल पर खड़ी की गई पंचायती संस्थाओं में संगठित हो। वे ऊपर के स्तर के लिए अपने प्रतिनिधियों का प्रत्यक्षतः चुनाव करते हों जिसमें न तो धन की और न ही नौकरशाही की कोई भूमिका हो। ये पंचायतें गांवों, मुहल्लों, जिलों और राज्यों से लेकर केन्द्रीय स्तर तक कायम हों। हर आम नागरिक को चुनने और चुने जाने का समान अधिकार हो। पर शोषक वर्गों को ये अधिकार तबतक नहीं मिलने चाहिए जबतक कि नई व्यवस्था के प्रति उनकी वफादारी सिद्ध न हो जाये। निर्वाचकों को यह भी पूरा अधिकार हो कि चुने गये प्रतिनिधियों को वे जब जाहें वापस बुला सकते हों। हर स्तर की पंचायत के सदस्यों को अपने स्तर पर फैसले लेने और लागू करने का अधिकार हो, पर उनकी यह स्वायत्तता पूरे मेहनतकश राज्य के सम्पूर्ण हितों के मातहत हो, जिसकी देखभाल की जिम्मेदारी केन्द्रीय स्तर की पंचायत को हो। चुने हुए प्रतिनिधियों का वेतन आम मेहनतकशों के बराबर हो और उन्हें कोई भी विशेषाधिकार न प्राप्त हो। प्रशासन और प्रबंधन का ज्यादातर काम जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की कमेटियों द्वारा अंजाम दिये जायें। शुरू में वेतनभोगी नौकरशाही की मजबूरी भी हो तो यह नौकरशाही मजदूर राज्य के अवयव—अपने स्तर की व्यवस्था के मातहत हो और धीरे-धीरे नौकरशाही तंत्र के सम्पूर्ण खात्मे की प्रक्रिया जारी रहे।

एक क्रान्तिकारी लोक•पंचायती व्यवस्था का यहां हमने बहुत मोटा-मोटी एक खाका दिया है। इसकी बारीकियों, जटिलताओं की यहां हमने सटीक-सूक्ष्म रूप से चर्चा नहीं की है, क्योंकि यहां हमारा मतलब सिर्फ यह स्पष्ट करना है कि मंहगे, भ्रष्ट पूंजीवादी चुनावों और पूंजीवादी संसदीय प्रणाली का ऐसा

(पेज 9 पर जारी)

अब यह अपरिहार्य है! और सम्भव है!

(पेज 9 से आगे)

विकल्प जनता की पहलकदमी के आधार पर खड़ा किया जा सकता है। और केवल तभी उत्पादन, राजकाज और समाज के ढांचे पर उत्पादन करने वालों का वास्तविक नियंत्रण कायम हो सकता है।

मौजूदा पूंजीवादी सामाजिक-आर्थिक ढांचे के अन्तर्गत लोक स्वराज्य पंचायतों को सर्वाधिकार सम्पन्न बनाकर वास्तविक जनवाद की बहाली कतई नहीं हो सकती। पूंजीवादी संसदीय जनवाद की व्यवस्था को जनता क्रान्तिकारी जनसंघर्षों के द्वारा ही—एक प्रबल वेगवाही सामाजिक क्रान्ति के झंझावात के द्वारा ही तबाह कर सकती है। सच्ची जनवादी व्यवस्था शासक वर्ग तोहफे के तौर पर नहीं देंगे।

मौजूदा व्यवस्था के अन्तर्गत व्यापक जनता की पहल पर गठित ऐसी प्रतिनिधि सभाओं को कोई संवैधानिक अधिकार भले ही न हासिल हों, लेकिन क्रान्तिकारी शक्तियों को जनता का आह्वान करना चाहिए कि वह बुर्जुआ संसदीय प्रणाली और फर्जी पंचायती राज के सारे छल-छद्म की जवाबी कार्रवाई के तौर पर गांव-गांव में और औद्योगिक क्षेत्रों में, लोक स्वराज्य पंचायतों का गठन करना शुरू कर दे। जनता के बड़े हिस्से का भारतीय पूंजीवादी जनतंत्र से मोहभंग हो चुका है और आने वाले दिनों में यह प्रक्रिया तेज होकर अपनी अंतिम हदों तक पहुँच जायेगी। इसलिए आज जनता के सामने ठोस विकल्प प्रस्तुत करने की जरूरत है।

हो सकता है कि लोक स्वराज्य पंचायतों का गठन शुरुआती दौर में पूंजीवादी संसदीय प्रणाली को खारिज करने की एक प्रतीकात्मक प्रक्रिया मात्र हो। पर जनसंघर्षों के आगे बढ़ने की प्रक्रिया में ऐसी प्रतिनिधि संस्थाओं का गठन और इनके अस्तित्व का बने रहना एक कारगर हथियार बन सकता है और धीरे-धीरे ऐसी प्रतिनिधि संस्थाएं जनता की क्रान्तिकारी समान्तर सत्ता का केन्द्र बनकर उभर सकती हैं।

संसदीय जनतंत्र के छलतंत्र के खिलाफ दो नारे—

''लोक स्वराज्य पंचायतों का गठन करो।''

''नई संविधान सभा बुलाने के लिए संघर्ष करो।''

आर्थिक नव उपनिवेशवाद के इस नये दौर में—पूंजी के भूमण्डलीकरण के इस नये दौर में, साम्राज्यवाद- पूंजीवाद के विरुद्ध नई सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी के इस दौर में, हम देश की मेहनकश आवाम के सामने भारतीय पूंजीवादी जनवाद और संसदीय प्रणाली के खिलाफ दो नारे प्रस्तुत कर रहे हैं। पहला नारा है—''सच्चे जनवाद की बहाली के लिए लोक स्वराज्य पंचायतों का गठन करो। पूंजीवादी संसदीय व्यवस्था का नकली जनवाद मुर्दाबाद! सारी सत्ता लोक स्वराज्य पंचायतों को।''

हमारा दूसरा नारा उस जनविरोधी संविधान के खिलाफ है जिसके तहत वर्तमान पूंजीवादी जनवादी संसदीय प्रणाली और पूरा राजकाज संचालित हो रहा है और जिस संविधान सभा का निर्माण महज 15 प्रतिशत लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाली संविधान सभा ने किया है। हमारा यह दूसरा नारा है — **''नई संविधान सभा बुलाने के लिए संघर्ष करो।''**

जाहिर है कि इस नई संविधान सभा का चुनाव सार्विक मताधिकार के आधार पर होना चाहिए, लेकिन उस तरह कतई नहीं जिस तरह संसद व विधान सभाओं के चुनाव होते हैं। तब तो यह भी पूंजी का ही खेल बनकर रह जायेगा। इसके लिए गांवों-मुहल्लों के स्तर पर छोटे-छोटे निर्वाचक मण्डलों द्वारा ऐसे जनप्रतिनिधियों का प्रत्यक्ष चुनाव किया जाना चाहिए, जो संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव करें या यह भी हो सकता है केन्द्रीय स्तर की लोक स्वराज्य पंचायत को ही नई संविधान सभा का दर्जा दे दिया जाय। मेहनतकशों के राज्य का—समाजवादी जनतांत्रिक गणराज्यों के भारतीय संघ का संविधान वास्तव में ऐसी ही सच्ची जनवादी प्रक्रिया से बन सकता है।

इसलिए नई संविधान सभा के गठन का नारा पूंजीवादी संवैधानिक धोखाधड़ी के पर्दाफाश का नारा है। हमें आज इसे जनता के सामने पूंजीवादी संसदीय व्यवस्था विरोधी प्रचार के एक नारे के रूप में लगातार प्रस्तुत करना चाहिए।

आज पूंजीवादी संसदीय चुनावों के दौरान हमें क्या करना चाहिए ?

आज एक बार फिर देश में संसदीय चुनाव हो रहे हैं। किसी भी पूंजीवादी राजनीतिक पार्टी पर जनता का विश्वास नहीं है। किसी के पास कोई नारा नहीं है। उदारीकरण की आर्थिक नीतियों पर सबकी आम सहमति है। ऐसे में साम्प्रदायिक फासिस्ट भाजपा कारगिल, पोखरण के सहारे अन्धराष्ट्रवादी जुनून भड़काकर सत्ता की सीढ़ियां चढ़ना चाह रही है तो कांग्रेस नेहरू-गांधी वंशवाद और स्थिरता के नारे के सहारे। तथाकथित ''तीसरी ताकतों'' का भाजपा और कांग्रेस से समान दूरी का सिद्धान्त टूट चुका है। संसदीय वामपंथी ''त्रिशंकु संसद'' की सम्भावनाओं के मद्देनजर एक ओर एक बार फिर तीसरी ताकत ही जिन्दा करने की बातें कर रहे हैं तो दूसरी ओर भाजपा के साम्प्रदायिक फासीवाद का विरोध करने के लिए कांग्रेस को भी समर्थन देने की घोषणा कर रहे हैं। चुनने के लिए कुछ भी नहीं है, फिर भी चुनाव हो रहे हैं।

जहां तक फासीवाद के खतरे के मुकाबले का सवाल है, इस या उस मध्यमार्गी बुर्जुआ पार्टी या चुनावी वामपंथियों के सहारे या भारतीय पूंजीपति वर्ग की सबसे पुरानी पार्टी कांग्रेस को वोट देकर यह काम नहीं किया जा सकता। पूंजीवादी व्यवस्था के संकट ने और अनुदारवादी ''नव उदारवादी'' आर्थिक नीतियों के दौर ने ही आज फासीवादी प्रवृत्ति को मजबूत बनाने का काम किया है। भूलना नहीं होगा कि साम्प्रदायिक फासीवाद का विरोध करने वाली कांग्रेस भी सत्ता के संकट की घड़ी में फासीवादी शासन कायम करने के लिए तैयार रहती है (आपातकाल को याद करें) और धर्मनिरपेक्षता की दुहाई देने वाले तीसरे मोर्चे के तमाम घटकों के लिए भी सत्ता के लिए भाजपा की गोद में जा बैठने में कोई परहेज नहीं है।

नई आर्थिक नीतियों और फासीवादी खतरों के विरोध के कार्यभारों को आज अलग करके नहीं देखा जा सकता। इन कार्यभारों को क्रान्तिकारी वामपंथ जनसंघर्षों को मजबूत बनाकर ही अंजाम दे सकता है। यदि क्रान्तिकारी वामपंथ की धारा आज कमजोर और बिखरी हुई स्थिति में नहीं होती तो मजदूरों किसानों के संघर्षों के जरिए व्यवस्था विरोधी संघर्ष चलाते हुए वह साम्प्रदायिक फासीवाद का भी कारगर मुकाबला कर सकती थी और तब इस संघर्ष में कभी-कभार मध्यमार्गी बुर्जुआ पार्टियों को भी साथ लेकर कार्यनीतिक संयुक्त मोर्चा बनाया जा सकता था तथा संसद के मंच का भी एक हद तक इस्तेमाल किया जा सकता था। पर आज यह संभव नहीं है। तब फिर आज की स्थिति में चुनावों में क्रान्तिकारी शक्तियों को क्या करना चाहिए ?

जबतक परिस्थितियां प्रत्यक्ष क्रान्तिकारी न हों तब तक चुनाव बहिष्कार का क्रियात्मक नारा देना अराजकतावादी स्टैण्ड होगा। दूसरी ओर, चुनावों में उम्मीदवार खड़ा करके या इक्के-दुक्के लोगों को संसदीय सभ्रान्तवाड़े में भेजकर भी क्रान्तिकारी शक्तियां अपने क्रान्तिकारी मकसद के व्यापक प्रचार और व्यवस्था के भण्डाफोड़ के काम को अंजाम नहीं दे सकतीं क्योंकि वे बिखरी हुई हैं और देशव्यापी जनसंघर्षों का आधार भी उनके पास नहीं है। देश स्तर पर एकीकृत क्रान्तिकारी नेतृत्व—जनता में व्यापक आधार वाली एक क्रान्तिकारी पार्टी ही अपने थोड़े से लोगों को संसदीय चण्डूखाने में भेजकर अपने क्रान्तिकारी उद्देश्य का प्रचार कर सकती है।

हमारी यह पक्की धारणा है कि आज चुनावों में हमें एक अलग ढंग से भागीदारी करनी चाहिए। चुनावों में उम्मीदवार खड़ा करना अपनी ताकत फालतू खर्च करना है। इसके बजाय हमें चुनावों के गर्म राजनीतिक माहौल का लाभ उठाने के लिए इस दौरान जन सभाओं और व्यापक जनसम्पर्क अभियानों के द्वारा जनता तक अपनी बात पहुँचानी चाहिए, सभी संसदीय पार्टियों का और पूंजीवादी संसदीय व्यवस्था का भण्डाफोड़ करना चाहिए तथा लोगों को यह बताना चाहिए कि किसी पार्टी को वोट देने से कोई फर्क नहीं पड़ेगा, फर्क तभी पड़ेगा जब मेहनतकश जनता संगठित होकर सारी ताकत अपने हाथों में ले ले।

जो क्रान्तिकारी जनसंगठन वर्तमान लोकसभा चुनावों के दौरान 'क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान' चलाते हुए देश के विभिन्न हिस्सों में पूंजीवादी व्यवस्था और चुनाव प्रणाली का भण्डाफोड़ करते हुए जनसभाएं और जन सम्पर्क कर रहे हैं, उनके साथ 'बिगुल' से जुड़े कार्यकर्ताओं और मजदूर साथियों के दस्ते भी शामिल हैं और इस मुहिम में पुरजोर शिरकत कर रहे हैं। चुनावों के दौरान हम जनता के सामने लोक स्वराज्य पंचायतों के गठन का विकल्प प्रस्तुत कर रहे हैं और नई संविधान सभा बुलाने के लिए संघर्ष करने के लिए उसका आह्वान कर रहे हैं।

आज जो सम्भव है, वह अवश्य किया जाना चाहिए ताकि कल इससे अधिक किया जा सके और फिर संघर्ष के हर छोटे-बड़े रूप का क्रान्तिकारी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल सम्भव बनाया जा सके। ●

बीमा उद्योग के निजीकरण के लिए काम लगातार जारी है

भारतीय जीवन बीमा निगम द्वारा विदेशी फर्म और ओम्बड्समैन की नियुक्ति

● ललित मोहन

राम नाम का जाप करते हुए भाजपाई सरकार ने राष्ट्रीयकृत बीमा उद्योग पर जो छुरी चलाने का काम अपने पूर्व शासकों से ज्यादा तेजी से किया वह 'कामचलाऊ सरकार' होने के बावजूद बदस्तूर जारी रहा है। और सभी विपक्षी मौन हैं। भविष्य में संसद में पेश होने वाला बीमा नियमन प्राधिकरण (आई. आर. ए.) विधेयक तो सिर्फ 'तैयार माल में आई.एस.आई.का ठप्पा' लगाने जैसी बात होगी। कारगिल के युद्धोन्माद और अब चुनावों की चीख पुकार के बीच भारतीय जीवन बीमा निगम में एक विदेशी सलाहकार फर्म से लेकर 'ओम्बड्समैन' तक की नियुक्ति सरकारी इशारों को एकदम स्पष्ट कर देती है।

हाल ही में भारतीय जीवन बीमा निगम प्रबन्धन ने एक विदेशी फर्म 'बूज ऐलेने हेमिल्टन' को इसलिए नियुक्त किया है ताकि वह बीमा उद्योग के ''पुनर्गठन'' के सम्बन्ध में आवश्यक परामर्श दे। जाहिरा तौर पर यह फर्म भारतीय बीमा उद्योग के लिए कोई संजीवनी बूटी नहीं लायेगी। हां, यह जरूर है कि यह धीमा जहर देकर मारने का एक बेहतरीन नुस्खा जरूर प्रस्तुत करेगी।

राष्ट्रीयकृत बीमा उद्योग के पुनर्गठन और पुनर्संरचना का मतलब ही है कि कर्मचारियों की छंटनी की जाए, वेतन-बोनस-भत्तों में कटौती की जाए। 'ग्राहक-संतुष्टि और बेहतर कार्य संस्कृति' का कोड़ा कर्मचारियों पर फटकारा जाये और उनके द्वारा लम्बे संघर्षों द्वारा अर्जित अधिकारों को भी छीन लिया जाये।

कहा तो यह भी जा रहा है कि यह विदेशी परामर्शदाता फर्म बीमा उद्योग के निजीकरण से उत्पन्न परिस्थितियों में रणनीति सुझायेगी। वह विदेशों में बीमा व्यवसाय की कार्यपद्धति तथा इससे जुड़े उत्पाद, विपणन, उत्पाद मूल्य, सूचना प्रौद्योगिकी, मानव संसाधन विकास अनेक मुद्दों पर अपनी सिफारिशें देगी। लेकिन हिन्दुस्तान के बीमा कर्मचारी समझ सकते हैं कि हाथी के दांत दिखाने के और होते हैं, खाने के और।

हर साल प्रगति के अभूतपूर्व आंकड़े प्रस्तुत करने वाला बीमा निगम प्रबन्धन जब कर्मचारी हितों पर कुठाराघात करते हुए निजीकरण का 'मुकाबला' करने की तैयारियों में जुटा दीखता है तो यह भ्रम होता है कि यह मैनेजमेण्ट पब्लिक सेक्टर का होने के बजाय देशी-विदेशी बीमा कम्पनियों के गठजोड़ का नुमाइन्दा तो नहीं। बीमा कार्यालयों का 'कम्प्यूटराइजेशन' हो गया किन्तु कम्प्यूटर ट्रेनिंग नहीं। नवम्बर 93 के बाद भर्ती हुए कर्मचारियों को कम्प्यूटर इन्क्रीमेण्ट नहीं। कोई सम्मानजनक वेतन पुनर्निर्धारण समझौता नहीं। उल्टे कर्मचारियों को आजकल यह समझाया जा रहा है कि वे कैसे बेहतर ग्राहक संतुष्टि प्रदान करें। मानव संसाधन विकास प्रशिक्षण के नाम पर कर्मचारियों को तैयार किया जा रहा है कि विदेशी बीमा कम्पनियां आने के बाद हम कैसे उनसे प्रतियोगिता करेंगे। यह बात उनके दिमाग में बिठायी जा रही है कि निजीकरण तो अपरिहार्य है। उनको पेट पर पट्टी बांधकर दांत निपोरने और दुम हिलाने के लिए प्रेरित किया जा रहा है। नई भर्तियां नहीं हो रहीं, पुराने लोग सेवानिवृत्त हो रहे हैं लेकिन फिर भी समझाया यह जाता है कि 'सरप्लस स्टाफ' है। तनख्वाह बढ़ाने की लम्बित मांग उठाने पर 'कारगिल' संकट की धौंस दी जाती है।

सन 91 में नई आर्थिक नीति लागू होने के वक्त जिस आम बीमा कर्मचारी को यह संदेह था कि बीमा उद्योग का निजीकरण नहीं होगा वह भी आज साफ है—बीमा उद्योग का निजीकरण तो होना ही है। अपने नेतृत्व के उन बातबहादुरों के दावे, जो कहा करते थे कि हमारे रहते बीमा का निजीकरण नहीं हो सकता, भी उसे अब हवाई गोले लगने लगे हैं। उसे आगे का रास्ता स्पष्ट नहीं दीखता, क्योंकि वर्तमान ट्रेड यूनियन नेतृत्व के हाथों में जो मशालें थी, वह बुझ चुकी हैं। लेकिन हमारा मानना है कि रास्ता है। पथ प्रदर्शक के पथभ्रष्ट हो जाने से पथ का अस्तित्व खत्म नहीं हो जाता। हां, यह जरूर है कि इस पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के भीतर अब कोई मुक्ति का रास्ता नहीं बचा है। अब हमारी लड़ाई लम्बे और व्यापक स्तर पर समाजवादी नियोजित अर्थव्यवस्था के लिए होगी। फौरी तौर पर हमें उन अधिकारों की हिफाजत के लिए लड़ना होगा जो 'पब्लिक सेक्टर कैपिटलिज्म' के पिछले चालीस-पैंतालीस वर्षों के दौरान और उससे भी पहले अंग्रेजी हुकूमत के दौरान हमने लड़कर हासिल किये थे और जिन पर आज लगातार घातक प्रहार हो रहे हैं। फिर यह समझना होगा कि उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को किसी एक कारखाने या किसी एक सेक्टर में अलग से नहीं उल्टा जा सकता। यह पूरे अर्थतंत्र और समाजतंत्र का प्रश्न है। इस लड़ाई को यदि सभी प्रभावित मजदूर-कर्मचारी मिलकर लड़ना शुरू करेंगे तो फिर समाज के अन्य प्रभावित वर्ग भी साथ आने लगेंगे और सही सफलता की यह पहली बुनियादी गारण्टी होगी। साथ ही हमें पूरे ट्रेड यूनियन आन्दोलन में क्रान्तिकारी पुनर्जागरण की लहर पैदा करनी होगी और पुराने नौकरशाह नेतृत्व से छुटकारा पाकर अपना नया क्रान्तिकारी नेतृत्व विकसित करना होगा। यह एक लम्बी और कठिन काम है पर हजार मील लम्बी यात्रा की शुरुआत भी तो एक कदम से ही हुआ करती है, और फिर, यदि हम रस्म अदायगी के बजाय जीतने के लिए लड़ना चाहते हैं तो हमारे सामने दूसरा कोई रास्ता भी तो नहीं है। ●

कहानी

नीलकांत का सफर

स्वयंप्रकाश

•

नीलकांत सफर कर रहे थे।

चूंकि वह जनता थे इसलिए थर्ड क्लास में सफर कर रहे थे और चूंकि वह थर्ड क्लास था इसलिए ट्रेन के आखिरी डिब्बे का आखिरी कम्पार्टमेण्ट था। बाकी ट्रेन या तो फर्स्ट थी या शयनयान या आरक्षित या और कुछ। लगता था, साधारण थर्ड के इस कम्पार्टमेण्ट को भी पीछे ही पीछे मात्र दयावश या औपचारिकता निभाने के लिए जोड़ दिया गया है। जब ट्रेन कहीं रुकती तो प्लेटफार्म के बीचोबीच फर्स्ट के डिब्बे होते जहां से चाय-पानी, पान-सिगरेट, फल-फ्रूट, पूछताछ, स्टेशन मास्टर सब सामने ही होता। साधारण थर्ड अक्सर प्लेटफार्म से बहुत दूर जंगल में रुकता जहां से हर स्टेशन पर बहुत सारे प्यासे अपने-अपने लोटे-गिलास लेकर वाटर हट की तरफ भागते, जो अक्सर सूखी या खाली या बन्द होती तब आगे का कोई नल या प्याऊ बर्र का छत्ता बना जाता। दो-चार पानी पी पाते, चार-छह भर पाते कि सिटी बज जाती और लोग वापस दुम की तरफ भागते। यह सब इतना तय और सहज व 'शाश्वत' सा था कि कोई इस बारे में नहीं सोचता। सोचता भी तो बस यही कि मुसाफिरी में तो यह सब चलता ही है।

नीलकांत इसी डिब्बे में थे।

डिब्बे में भारी भीड़ थी। लोग भेड़-बकरियों की तरह भरे हुए थे। कुछ लोगों की नजर में हो सकता है यह उचित ही हो, पर मुझे पूरा भरोसा है कि आप उन लोगों में से नहीं हैं। क्योंकि आपको भी इन्हीं स्थितियों में सफर करना पड़ता है। तो लोग एक-दूसरे के ऊपर लदे जा रहे थे। जितने बैठे थे उनसे ज्यादा खड़े थे और कुछ तो लटके भी थे। ऊपर की सीटें सामान से भरी हुई थीं और फर्श औरतों से। दोनों स्थानों पर बीच-बीच में कुछ आदमी भी फंसे हुए थे। बच्चों को हर जगह पाया जा सकता था। वे पानी मांग रहे थे और गर्मी से बेजार हो रहे थे। उन्हें पानी पिलाया जा रहा था और पेशाब करवाया जा रहा था। वे रो रहे थे या सो रहे थे या झींक रहे थे या छींक रहे थे। वे हैरान थे कि हलकान थे। डिब्बे की सीटों पर एक-दो-तीन बाकायदा नम्बर पड़े हुए थे और एक तरफ की दीवार पर लिखा हुआ था 'पैंतीस सवारियों के लिए'। इसे पढ़कर अंदाजा होता कि रेलवे में काम करने वाले आदमी कितने मजाकिया हैं। अब पाखाने का आलम देखिए। इस डिब्बे के यात्री, थर्ड क्लास के मुसाफिर, खासकर नन्हे या किशोर मुसाफिर जनरल नॉलेज के क्षेत्र में कुछ कमजोर थे और दिशामैदान या जंगल के आगे की वैज्ञानिक प्रगति से अनभिज्ञ थे। पाखाने में घुसते ही पता चलता था कि वे बेचारे काफी देर इसी दुविधा में पड़े रहे होंगे कि किधर मुंह करके बैठा जाए। तिस पर टॉटियों में पानी भी नहीं था। साबुन के स्थान पर किसी धर्मप्राण ने ढेर सारी मिट्टी जरूर धर रखी थी और आईना नहीं था तो क्या बुरा था? ऐसी स्थिति में अपना थोबड़ा देखकर खामखां आदमी का मुठ आँफ ही होता। इस संडास में तीन सज्जन बाहर को मुंह उचकाये इधर-उधर सहारा लिए खड़े हुए थे। सोचना डर पैदा करता था कि क्या हो, यदि इस समय डिब्बे में किसी सज्जन या देवी को इस भव्य कक्ष की आपातकालीन आवश्यकता पड़ जाए जिस पर 'प्रसाधन' लिखा है।

इसी डिब्बे में नीलकांत सफर कर रहे थे। खड़े हुए। इसी संडास में।

खैर, बाद में उन्हें डिब्बे में घसने में सफलता भी मिल गयी, पर संडास की बदबू दिमाग से गयी नहीं। और हालाँकि इस संघर्ष में उनकी बूढी अटैची का कमजोर हैण्डल टूट गया और नतीजन उन्हें उस बूढी अटैची को बच्चों की तरह छाती से चिपकाकर रखना पड़ा, पर घुस तो गए ही। पाखाने से तो अच्छे ही हैं।

यहां आकर नीलकांत ने देखा कि जहां बहुत सारे आदमियों को पांव सरकाने की भी जगह नहीं है और कई अब तक लटक रहे हैं या निरंतर इस ताक में टंगे हैं कि कब आदमियों की तरह आराम से पैर टिकाने या पुट्ठे टिकाने का मौका मिल जाए, वहीं कुछ आदमी लेटे हुए हैं। और बाकायदा पूरी बर्थ घेरकर लेटे हुए हैं। इससे उन्हें उस झगड़े का भी सुराग मिल गया जो न जाने कब से खड़ों और लेटों में चल रहा था। वे कह रहे थे हमने भी किराया दिया है। जवाब मिल रहा था हम ठेठ वहां से आ रहे हैं जहां से ये ट्रेन बनी है। ठेठ बम्बई से। वे कह रहे थे आपका कोई रिजर्वेशन नहीं है, चाहे बम्बई से आओ, चाहे लंदन से। जवाब मिल रहा था, अजी साहब, एक बर्थ के लिए कुली को बीस रुपये दिये हैं। रात भर का मामला है, आप तो घण्टे-दो घण्टे में उतर जाएंगे। इस पर हल्ला मचाने वाले थोड़े ढीले पड़ जाते, पर थोड़ी देर में वही सब फिर शुरू हो जाता।

नीलकांत को लगा, जो लेटे हुए हैं, वे कितने हृदयहीन हैं। माना कि आने बीस रुपये दिये हैं और आपको बहुत दूर जाना है, पर कम दूरी वाले क्या मुफ्त में सफर कर रहे हैं? क्या उन्हें टिकने भर का भी अधिकार नहीं? औरतें तक खड़ी हुई हैं और ये बेशरम पैर पसारे हुए पड़े हैं। यह कोई इन्सानियत है? और उसे देखो सींकिया पहलवान को। कैसे आंखे मींचे पड़ा है, जैसे गहरी नींद में हो। समझता है हम थोखे में आ जाएंगे। बोलने वाले भी साले यों ही हैं। घण्टे भर से कांय कांय कर रहे हैं, यह नहीं होता कि हाथ पकड़कर उठाकर बैठा दें सालों को। देखते हैं कोई क्या कर सकता है। चालीस आदमी खड़े कांय-कांय कर रहे हैं और चार बेशरमी से पड़े हुए हैं। धन्य हो! और जिन्हें जरा सी भी टिकने की जगह मिल गयी है, वे ऐसे चुप हैं जैसे खड़े हुओं से कोई हमदर्दी नहीं, लेटे हुओं पर कोई गुस्सा नहीं।

नीलकांत ने घड़ी देखी। ट्रेन चले हुए आधा घण्टा से भी ज्यादा हो गया था। आम तौर पर इतनी देर में मुसाफिरों के झगड़े खत्म हो जाते हैं और जान-पहचान हंसी खुशी का सिलसिला शुरू हो जाता है। फिर क्या बात है? आदमी क्यों इतना लड़ता है? किसे इस ट्रेन में अनन्त काल तक रहना है? नीलकांत ने सोचा। तभी अचानक नीलकांत को महसूस हुआ कि गर्मी कुछ ज्यादा ही है। पंखे देखे। चल रहे थे। खिड़कियां बन्द थीं। नीलकांत को आश्चर्य हुआ कि इस तरफ उनका ध्यान अब गया। यह भी कि अब तक किसी ने खिड़कियां खोली क्यों नहीं? उनके पास वाली खिड़की से सटकर एक लड़का खड़ा था। नीलकांत ने लड़के से कहा—जरा खिड़की खोल दीजिए। 'नहीं खुलती' लड़के ने बत्तीसी निकालते हुए जवाब दिया। नीलकांत को विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने लड़के को अटैची पकड़ाते हुए कहा—हटिये मैं खोलता हूं। हटा-हटी में एक बच्चे का पैर कुचल गया। खैर नीलकांत ने खूब जोर लगाया लेकिन खिड़की टस से मस नहीं हुई। नीलकांत ने खूब जोर लगाया। जांच-परख की। फिर जोर लगाया, फिर दिमाग लगाया। फिर ताकत, फिर दिमाग, लेकिन खिड़की पर कोई असर नहीं हुआ। दूसरी भी नहीं खुली। तीसरी तक उन्हें किसी ने जाने नहीं दिया। बीसियों लोग पहले ही कोशिश कर चुके थे। सारी की सारी खिड़कियां जाम थीं। नीलकांत हताश हो गये। पसीना-पसीना हो गये। खीझ गये। डिब्बे के बहुत से लोग उनकी इस हरकत को देख रहे थे और खिड़कियों पर विभिन्न टिप्पणियां कर रहे थे। एक गाय जैसे चेहरे वाले बाबा 'नहीं' खुलती तो छोड़ो, बर्दाश्त कर लो की मार्मिक अपील कर रहे थे। एक उग्र से व्यापारी सज्जन कह रहे थे कि साले सब रेलवे वाले चोर हैं (इसलिये खिड़की को छोड़ो, वह नहीं खुलेगी)। ऊपर की सीट पर आराम से बैठा एक दढ़ियल गरज रहा था—'तोड़ दो। मैं कहता हूँ तोड़ दो नहीं खुलती तो।' यानी लोग अपने-अपने दिमाग के हिसाब से नीलकांत को सुझाव दे रहे थे, और जिनसे यह भी नहीं हो रहा था वे सरकार को गालियां दे रहे थे, और बाकी सब इस सबको टाइम-पास करने का नुस्खा समझकर चुपकर चुपचाप सबका मजा ले रहे थे।

नीलकांत ने जेब से रुमाल निकाल कर पसीना पोंछा तो वह लड़का जल्दी करने लगा—'भाईसाब ! अपनी अटैची संभालो'। लगा, उलझ पड़ेंगे, बरस पड़ेंगे किसी पर। चुपचाप अटैची संभाल ली।

आखिर गलती किसकी है? नीलकांत सोचने लगे। जब ट्रेन में इतनी जगह नहीं है तो क्यों इतने टिकट देते हैं? ज्यादा मुसाफिर हैं तो ज्यादा गाड़ियां क्यों नहीं चलाते? लोग लटक-लटककर सफर कर रहे हैं, लोग सामान रखने की जगह पर भी बैठे हुए हैं, लोग खड़े हुए हैं, लोग पाखाने में भी भरे हुए हैं और रेलवे फिर भी घाटे में जा रही है। क्यों? कौन दोषी है? क्या वह बुकिंग क्लर्क, जिसने इतने ज्यादा टिकट दे दिये? या वह मिस्त्री, जिसने रेल रवाना होने से पहले खिड़की-दरवाजे नहीं जांचे? या वे सज्जन जो कुलियों को बीस-बीस रुपये देकर पूरी बर्थ पर कब्जा किये हुए हैं? या वे अमीर जिनके लिए पांच-पांच फर्स्ट के डिब्बे बीच में लगाये जाते हैं?

सोचने लगे। पर उलझ गये। पर सोचने तो लगे। हालांकि नतीजे तक नहीं पहुँचे पर उलझे तो। पर पता नहीं क्यों इन चीजों पर सोचने लगे? हालांकि पढ़ते तो धर्मयुग, इलस्ट्रेटेड वीकली वगैरह ही हैं। वे लोग तो चाहते थे नीलकांत प्रदूषण के बारे में सोचें, जातियों के तुलनात्मक विवेचन पर सोचें, परामनोविज्ञान और आधुनिक प्रेतविद्या के बारे में सोचें, सोचें कि शास्त्रीजी मरे या उनकी हत्या हुई पर ये तो अपनी दुर्दशा के लिए दोषी कौन है, इस पर सोचने लगे! गजब हो गया!! खैर, सेठजी चिन्ता न करें, नीलकांत इन तकलीफों के बारे में तभी तक सोचेंगे जब तक उन्हें बैठने के लिए ठीक-ठाक जगह नहीं मिल जाती, या हद से हद जब तक यह सफर जारी है। गाड़ी से उतर जाने पर वह गाड़ी के बारे में सब कुछ भूल जाएंगे और फिर वही सोचने लगेंगे जो सेठ लोग उनसे सुचवाना चाहते हैं। पर क्या पता? अगर कल को कोई दूसरी तकलीफ आयी—आएगी ही—और वे सोचने लगें कि उसका असली जिम्मेदार कौन है—तो?

नीलकांत को प्यास लगी। स्टेशन अभी दूर था। सामने एक लुगाई अपने बच्चे को सुराही से पानी निकालकर पिला रही थी। नीलकांत की इच्छा हुई पर लुगाई और सुराही और गिलास सब बेहद गन्दे थे। नीलकांत हाइजीन के बारे में सोचने लगे और नतीजा यह निकला कि प्यासे रह गये। रुमाल निकालकर गरदन पोंछी। पंखों की तरफ देखा। बराबर चल रहे थे, पर लगता था एग्जास्ट फैन हैं जो हवा देते नहीं, हवा खींचते हैं। इधर-उधर नजर दौड़ाई कि कहीं टिकने की कोई संभावना नजर आ जाए। नहीं आयी। हार कर फिर खिड़कियों के बारे में सोचने लगे।

नीलकांत की इच्छा हुई, वापस उसी संडास में चले जाएं। खड़े यहां भी हैं, वहां भी थे। वहां कम से कम थोड़ी-बहुत हवा तो थी। माना कि बदबू, गन्दगी और सबसे ज्यादा अपने संडास में होने का एहसास, ऐसी ही कुछ परेशानियां थीं, पर यहां क्या कम परेशानी है? और सुविधा क्या है? सिवा इस गरिमा के कि डिब्बे में हैं, संडास में नहीं ? लिहाजा चलो वापस संडास में।

लेकिन वापस जाना असंभव था। बहुत कुछ बाहर था, और कुछ भीतर भी था, जो रोक रहा था। झख मारकर भविष्य के बारे में सोचने लगे। संडास वाले का क्या भविष्य है? किसी को भी हाजत होते ही वहां से बाहर निकाल दिया जाना। और यहां? संभावना है कि कभी तो कोई स्टेशन आएगा, तो कुछ सवारियां उतरेंगी और उन्हें भी पुट्ठे टिकाने की जगह मिलेगी ही। इस सुन्दर भविष्य के लिए—जब वे दूसरों की बराबरी में बैठे होंगे—इस वर्तमान में कुछ कष्ट उठा लें तो क्याहर्ज है ?

खिड़कियां ही खुल जातीं तो तन-बदन थोड़े तण्डे होते। कइयों को उन पर टिकने की जगह भी मिल जाती। और खिड़की साली, उनके बारे में सोचने से तो खुलने से रहीं। कोई औजार-वौजार होता तो ...

अब नीलकांत सोचने लगे कि कौन सा औजार होता जिससे खिड़की खोली जा सकती? और इससे भी पहले कौन सी तरकीब होती जिससे इन पसरे हुए सज्जनों को उठाकर बैठने पर मजबूर किया जा सकता? एक तरीका तो यह है कि लड़ लिया जाये। और तय है कि अधिकांश लोग उनका ही साथ देंगे। और दूसरा यह है कि स्टेशन आने पर गार्ड को बुलाकर लाया जाये और कहा जाये कि इन महापुरुषों को ... तभी गाड़ी रुक गयी।

नीलकांत ने सोचा, चलो गार्ड को बुला लायें पर वह मिलेगा ? और मिला भी तो आने के लिए तैयार हो जाएगा ? और आ भी गया तो इनको उठा सकेगा? अगर वह फर्स्ट के किसी मुसाफिर के साथ चाय पी रहा हो तो ? और साफ मना न भी करे चलने के लिए ..... पर चले तब तक गाड़ी ही चल पड़े तो? और मान लो नीलकांत किसी तरह चढ़ भी जाएं और फिर ये जगह भी न मिले तो? और पहली बात तो यह है कि अभी अटैची किसको सम्हलाकर जाएं? ताला इसमें है नहीं। और हालांकि इसमें ऐसा क्या है जो किसी के काम आ सके। फिर भी। और यह लड़का? हालांकि लेटे हुए लोग उठेंगे तो इसे भी बैठने की जगह मिल सकती है, लेकिन अभी इससे कहूँ कि जरा मेरी जगह और अटैची देखना, मैं गार्ड को बुलाकर ला रहा हूँ, तो देखेगा? सवाल ही नहीं उठता। एक बात और है। क्या भरोसा कि इतना सब करने पर भी मुझे जगह मिल ही जाएगी ?

उतरूं न उतरूं की इसी दुविधा में नीलकांत पड़े रहे और ट्रेन ने सीटी मार दी। फिर ट्रेन खिसकने लगी और आगे बढ़ने लगी। इसी समय प्लेटफार्म की तरफ से आठ-दस काले-कलूटे मजदूर, फटेहाल, दांत निकालते हुए, दौड़ते-दौड़ते आये और एक दूसरे को पुकारते, चीखते एक-एक करके सब उसी डिब्बे में चढ़ गये। पहले एक चढ़ा उसने दूसरे का हाथ पकड़कर उसे भी चढ़ा दिया उसने तीसरे को -- इस तरह सब चढ़ गये। पीछे-पीछे दो धाकड़ लुगाइयां भी चढ़ा ली गयीं और भागते-भागते आखिरी आदमी ने गेंती-फावड़े-तगारी-बेलचे वगैरह भी चढ़वा दिये और छलांग मारकर खुद भी चढ़ गया।

इस नयी भीड़ से दरवाजे और गलियारे में खड़े लड़के और बाबू लोग बुरी तरह अन्दर की तरफ धकेल दिये गये। एकदम कचरे की तरह। परस्पर धक्के को ठेठ अन्त तक महसूस किया गया और डिब्बे में चिल-पुकार मच गयी। मजदूरों के तपे हुए चेहरों के बीच खिली बिजली जैसी नीग्रो हंसी में इससे कोई फर्क नहीं पड़ा। वे अपनी भाषा में बुलन्दी से बतियाते रहे और ट्रेन पकड़ने की खुशी मिलकर मनाते रहे। उनके कपड़े कोयले के बुरादे से काले हो रहे थे और उस पर मैल और पसीने की मोटी तह जमी हुई थी। सफेदपोश पसन्द आदमी यथा सम्भव उनसे बचने की कोशिश कर रहे थे और एक साहब ने —जो दुर्भाग्य से उनके पास ही फँसे हुए थे—नाक पर रुमाल भी लगा लिया था। उनका बस चलता तो वे आँख, कान, सिर, पूरे शरीर पर रुमाल लगा लेते। पर इससे होता क्या? मजदूर तो जहां थे रहते ही, गाथव तो हो नहीं जाते, अलबत्ता उन साहब का दम जरूर घुट जाता।

फिर क्या हुआ कि बहुत आहिस्ता-आहिस्ता, तिरछे होकर लोगों के बीच से जगह बनाते हुऐ वे नीलकांत के सामने से होते हुए डिब्बे के बीच तक आ गये। यानी उन्होंने नीलकांत को पीछे छोड़ दिया वे न लड़ रहे थे, न बक रहे थे, न भबड़ा रहे थे, न आपा खो रहे थे। उन्हें देखकर लगता था कि वे इस भीड़ और परेशानी के आदी हैं और इसे कुछ नहीं समझ रहे। शायद हमेशा अप एण्ड

(पेज 10 पर जारी)

नीलकांत का सफर

(पेज 10 से आगे)

डाउन करते हैं। लुगाइयां भी आ गयीं। उन्होंने अपने कसे हुए जिस्मों पर कसी हुई कांचली पहन रखी थी और उनके सिर के बालों की चोटियां खूब कस कर गुंथी हुई थीं। पीठ लगभग नंगी थी और पसीने में तर। एक पीठ नीलकांत के एकदम सामने से, करीब-करीब उन्हे छूते हुऐ गुजरी, ऐसी पुष्ठ, सबल, सुन्दर पीठ कि नीलकांत के मन में वाह-वाह सी होने लगी। बड़े भारी उनके घाघरे थे और जूतियां इतनी मर्दानी कि एक पड़ जाये तो थोबड़ा लहुलुहान हो जाये। वे हंस रहीं थी और ठिठोली के मूड में थीं, पर किसी की क्या मजाल जो उन्हें छेड़ने की सोच भी सके। मर्दों ने अन्दर पहुँचते ही खिड़कियों के सामने से लोगों को हटा कर उन्हें जांचा परखा, खोलने की कोशिश की और फिर उनमें से एक ने —जो थोड़ा सा पढ़ा लिखा, बल्कि उनके मेट जैसा लग रहा था—अपनी भाषा में पीछे दरवाजे के पास खड़े आदमी को पुकार कर कुछ कहा। गेंती मांगी थी, क्योंकि वह लोगों के बीच से होती हुई आ गयी। गेंती का एक सिरा एक खिड़की के सबसे निचले खाने में एक खास कोण में फँसा कर उसने अपने साथी से कहा, दबा। अब इस दूसरी आदमी ने एक खास जगह अपनी नपी-सधी ताकत लगायी और एक झटके से खिड़की खुल गई। सब लोग अपढ़ मजदूरों के इस कारनामे को बड़े कौतूहल से देख रहे थे और जाहिर है कि से खिड़की के खुल जाने से चकित और खुश हुए। वे भी जिन्होने बहुत कोशिश की थी नाकामयाब रहे थे और सोच रहे थे जब हम पढ़े लिखों से नहीं खुली तो इन अपढ़-गवारों से क्या खुलेगी? वे भी जिन्हे मजदूरों की क्षमता पर पूरा सन्देह था और वे भी जिन्हे डर था कि गेंती या ताकत के इस्तेमाल से खिड़कियां टूट जायेंगी। सिर्फ लेटे हुए लोग खिड़कियां खुल जाने से खुश नहीं थे। उन्हें चिन्ता हो रही थी कि अब उनका लेटा होना बाहर से भी दिख जाएगा और सब साले मच्छरों की तरह इसी डिब्बे पर टूट पड़ेगें।

-लेकिन उनमें से दो को तो लुगाइयों ने ही पैर सिकोड़ने पर बाध्य कर दिया था और खुद आराम से बैठकर पसीना सुखा रही थीं। उन्होने अपनी भाषा में लेटे हुओं को डांटकर कुछ कहा था—वे जिसका अर्थ तो नहीं, आशय जरूर समझ गये थे और वह सोचकर सिकुड़ गये थे कि पैर नहीं हटाये तो पुट्ठे भी हटाने पड़ेंगे।

धीरे धीरे उन बांकों ने सारी खिड़कियां खोल दीं और सारे पसरे पैर और फैले पुट्ठे हटाकर रख दिये। ठाठ से बैठ गये और फिर हंसने लगे। खड़े हुए फिर चकित थे और कई, मजदूरों के साथ उनकी बराबरी में बैठने को लालायित। इस स्टेशन से मानो सारे डिब्बे का नक्शा ही बदलना शुरू हो गया था।

खिड़कियां खुलते ही सारे डिब्बे में उजाला हो गया था और ताजा हवा के ठण्डे झोंके यहां से वहां सपाटे भर रहे थे। बाहर हरे-भरे लहराते खेत थे और पेड़ और नदियां और पहाड़—और उन सब पर बड़ी सुहानी शाम बिखर रही थी।

थोड़ी देर में ये लोग कोई गीत शुरू कर देंगे। उदासियां दूर भाग जाएगी। नीलकांत खुश थे। हालांकि खड़े थे। पर खुश थे। नीलकांत सफर कर रहे थे। ●

क्रान्ति एक ज्वाला है...

हरिहर ओझा के कुछ मुक्तक

अनन्त जिसकी निगाहों में है
इतिहास जिसकी राहों में है
ऐसे इंकलाब के सिवा किसे गायें
भविष्यत भी जिसकी बांहों में है।

यह बर्फानी रात,
यह हिमानी दिन,
और गर्म-गर्म हवाएं।
ये क्या माजरा है?
या तो कहीं कोई
आतिशफिशां फूटा है
या तो इस राह से
मेहनत का कारवां गुजरा है।

क्रान्ति एक ज्वाला है, जिसमें
जनने वाला,जल जाता है।
क्रान्ति एक भट्टी है,जिसमें
गलने वाला,गल जाता है।
नित नवीन के हाथों निर्मित
श्रम के वैभव से मंडित
क्रान्ति एक सांचा है,जिसमें
ढलने वाला,ढल जाता है।
'जलने वाला जल जाता है,
गलने वाला गल जाता है,
ढलने वाला ढल जाता है।'

कहां उठाओगे जीवन की भित्ति नई
जब तलक नहीं जर्जर दीवारें टूटेंगी।
कैसे गति नृत्य करेगी तेरे पांवों में
जब तक न रूढ़ियों की पैकड़ियां टूटेंगी
जब तलक न भाग्याकाश-छद्म
खंडित होगा
पूजित होगा जब तलक न श्रम का
उच्च भाल।
तुम कहां उगाओगे जीवन के सूर्य नये?
कैसे प्रतिभा की नूतन किरणें फूटेंगी?

नोयडा एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन में स्त्री मजदूरों का बर्बर शोषण

(पेज 3 से आगे)

किराए में देना पड़ता है।

अनगिनत बीमारियों की शिकार स्त्री मजदूर और डाक्टरों के भेस में घात लगाये ठग-लुटेरे

एनईपीजेड में कुछ समय से काम कर रही शायद ही कोई ऐसी मजदूर औरत होगी जो किसी न किसी बीमारी से पीड़ित नहीं है। गंदे पानी से फैलने वाली पेट की बीमारियां और गंदी हवा से होने वाली सांस की बीमारियां हर तीसरे-चौथे व्यक्ति को पकड़े हुए हैं। फैरिंजाइटिस, टॉसिलाइटिस, ब्रांकाइटिस, दमा, अमीबियासिस, निमोनिया, टी बी जैसी बीमारियां बड़े पैमाने पर फैली हुई हैं। ज्यादातर स्त्रियां कुपोषण और खून की कमी से ग्रस्त हैं। मूत्र सम्बन्धी रोग, लिकोरिया और मासिक धर्म की गड़बड़ी से भी सैकड़ों औरतें परेशान रहती है। इस इलाके की अकेली सरकारी डिस्पेंसरी के अकेले डाक्टर के मुताबिक हर महीने कम से कम दस स्त्रियों का गर्भपात हो जाने के मामले आते हैं।

इस इलाके में ई एस आई की एक अकेली डिस्पेंसरी है जिसके लिए हर महीने मजदूरों की तनख्वाह से पैसे कटते है। एक अकेला डाक्टर यहां 11 से 2 बजे तक तीन घंटे के लिए आता है। लेकिन ज्यादातर मरीज एक से डेढ़ बजे के बीच लंच की छुट्टी में ही आ पाते हैं। इन तीन ही घंटों में डाक्टर रोज 90 से 100 मरीज देखता है। गर्मियों में तो इनकी संख्या दो गुना हो जाती है। डिस्पेंसरी में कुछ चालू दवाएं ही रहती हैं, और अकसर वह भी नहीं मिलतीं।

इसका फायदा उठाकर कई प्राइवेट डाक्टरों ने मजदूरों को लूटने-खसोटने का धंधा जमकर चला रखा है। मजदूरों की जानकारी की कमी का ये खूब फायदा उठाते हैं। लिकोरिया जैसी साधारण बीमारी को कैंसर बताकर कई डाक्टर मरीजों को डराते हैं और सिर्फ आपरेशन की मोटी फीस हड़पने के लिए बच्चेदानी निकाल देने तक की सलाह दे देते हैं। बहुत सी स्त्रियां नौकरी जाने के डर से भी गर्भपात कराती हैं जिसमें ये डाक्टर जमकर कमाई करते हैं। पैसा हड़पने की हवस में ये कई बार मरीज की जान ही ले लेते हैं। कई मजदूरों ने बताया कि एक बार किसी बीमारी के इलाज के लिए डाक्टर के पास चले गये तो फिर जल्दी छुटकारा पाना मुश्किल होता है।

संगठित होने के बुनियादी अधिकार पर भी रोक

एनईपीजेड की ज्यादातर इकाइयों में यूनियनों का अस्तित्व नहीं है। इकाइयों में मजदूरों को आपस में मिलकर बात करने तक का मौका नहीं दिया जाता। दूसरी इकाइयों के मजदूरों से मिलने-जुलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अपनी यूनियन बनाने का मजदूरों का बुनियादी अधिकार भी उन्हें नहीं है। जैसे ही किसी मजदूर के बारे में पता चलता है कि वह अन्य मजदूरों को संगठित करने की कोशिश कर रहा है, उसे किसी बहाने से निकाल दिया जाता है, या तरह-तरह से परेशान किया जाता है।

वैसे तो श्रम विभाग के अधिकारी, लेबर इंस्पेक्टर आदि को पूंजीपतियों से बंधी-बंधाई रकम मिलती रहती है, लेकिन खानापूरी के लिए उन्हें जो कार्रवाई करनी पड़ती है, वह भी कारखानेदारों को गवारा नहीं होती। श्रम मंत्रालय को दी गई एक रिपोर्ट में श्रम आयुक्त ने इस बात पर चिंता व्यक्त की है कि नोयडा में ई पी जेड की इकाईयों के निरीक्षण के बारे में उत्तर प्रदेश सरकार असहयोगपूर्ण रवैया अपनाती है। आधे-अधूरे ढंग से हुई जांच में भी चला कि 1148 मजदूरों के नाम लिस्ट में नहीं चढ़े थे और 970 मामले न्यूनतम मजदूरी से भी कम देने के पाये गये।

विकास आयुक्त कार्यालय के एक वरिष्ठ अधिकारी ने बेशर्मी के साथ कहा कि उनके कार्यालय का काम उद्योगपतियों को हर तरह की सुविधाएं मुहैया कराना है, मजदूरों के लफड़ों में पड़कर उद्योगपतियों के रास्ते में रोड़ा अटकाना नहीं। उसने साफ कहा कि ''हम किसी यूनियन के पदाधिकारी या सरकारी अधिकारी को बिना अनुमति के भीतर घुसने नहीं देते। जोन के भीतर यूनियन गतिविधियों पर रोक है।'' इसके बाद सभी लुटेरे कारखानेदारों को ईमानदारी का सर्टिफिकेट देते हुए उसने फर्माया कि ''यहां यूनियन की जरूरत ही नहीं है क्योंकि मजदूरों का बिल्कुल शोषण नहीं होता है।'' बार-बार पूछने पर उसने यह माना कि मजदूरी बेहद कम है और कुछ फैक्ट्रियां न्यूनतम मजदूरी भी नहीं देती हैं। लेकिन फिर बेहयाई के साथ कठदलीली करते हुए उसने कहा कि ''अगर लोग कम पैसे पर काम करने के लिए तैयार हैं तो इसमें कारखानेदार की क्या गलती है?''

देश भर के मजदूरों की नुमाइंदगी करने का दावा करने वाली बड़ी-बड़ी ट्रेड यूनियनों में से किसी ने भी निर्मम शोषण के शिकार इन हजारों मजदूरों को संगठित करने या उनके बुनियादी हकों के लिए संघर्ष करने की कोशिश नहीं की है।

उदारीकरण का सार यही है कि पूंजीपतियों को मजदूरों को नोचने-खसोटने के लिए ज्यादा से ज्यादा अधिकार दिये जाएं और मजदूर को अपनी रक्षा के लिए हासिल अधिकार कम से कम किये जाएं। पूंजीपतियों और उनकी चाकर सरकारों की चाहत और कोशिश है कि एन ई पी जेड जैसी हालत पूरे देश में हो क्योंकि यह मजदूरों के लिए भले ही नर्क हो, मालिकों के लिए तो स्वर्ग ही है। श्रम कानूनों पर एक के बाद एक चोट करके सरकार इस कोशिश में जुटी भी है। पिछले कुछ वर्षों में करोड़ों नियमित मजदूर अपने रोजगार से हाथ धो चुके हैं और दूसरी तरफ दिहाड़ी तथा कैजुअल मजदूरों की तादाद बढ़ती जा रही है जिनकी हालत एन ई पी जेड के मजदूरों की हालत से भी बदतर है। केवल नोयडा, दिल्ली तथा साहिबाबाद में ही ऐसे मजदूरों की संख्या कंपनियों के नियमित मजदूरों से बहुत अधिक हो चुकी है जिन्हें संगठित करने के कठिन काम का बीड़ा उठाना चुनावी पार्टियों से जुड़ी यूनियनों के बस की बात नहीं है।

इन मजदूरों के बीच सघन क्रान्तिकारी प्रचार और संगठन के नये तरीके ढूंढने होंगे और एन ई पी जेड के अंदर और बाहर के मजदूरों को फौलादी एकजुटता कायम करनी होगी। यह एक लम्बा और कठिन संघर्ष होगा पर दूसरा कोई रास्ता नहीं हो सकता। ●

हर सचेत पाठक के लिए जरूरी पुस्तकें

राहुल फाउण्डेशन की पुस्तकें

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र 10/-
अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन—अल्बर्ट रीस विलियम्स 75/-
राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त, खण्ड एक 60/-
दायित्वबोध पुस्तिका श्रृंखला
अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं —दीपायन बोस 10/-
समाजवाद की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति —शशि प्रकाश 12/-
क्यों माओवाद —शशि प्रकाश 10/-
बिगुल पुस्तिका श्रृंखला
कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा—लेनिन 5/-
मकड़ा और मक्खी —विल्हेल्म लिब्कनेख्त 2/-
ट्रेड यूनियन काम के जनवादी तरीके —सर्जी रोस्तोवस्की 2/-

परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकें

शहीदेआजम की जेल नोटबुक 50/-
अब इंसाफ होने वाला है —सं. शकील सिद्दकी (उर्दू की प्रगतिशील कहानियों का प्रतिनिधि चयन) 75/-
समर तो शेष है —क्रान्तिकारी गीतों का संकलन 35/-
दुर्ग द्वार पर दस्तक —कात्यायनी 50/-
बेर्टोल्ट ब्रष्ट : इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां जर्मन से अनुवाद: मोहन थपलियाल 60/-
लहू है कि तब भी गाता है —पाश की प्रतिनिधि कविताएं 75/-
विचारों की सान पर (भगतसिंह और उनके साथियों के चुने हुए दस्तावेज, एवं लेख) 20/-
क्रान्ति का विज्ञान —लेनी वुल्फ 10/-
माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य —रेमण्ड लोट्टा 25/-
मध्यवर्ग का शोकगीत —अनुवाद: सुरेश सलिल —हांस माग्नुस एंत्सेंसबर्गर की कविताएं 25/-

डाक से मंगाने के लिए पुस्तकों के मूल्य में 12 रुपये रजिस्ट्री व्यय जोड़कर जनचेतना के नाम से धनादेश/ड्राफ्ट इस पते पर भेजें : जनचेतना, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010

हमारी खामोशी उनकी आक्रामकता को बढ़ाती है

तराई क्षेत्र में मजदूर आंदोलनों की वक्ती हार का फायदा उठाकर मालिकान ने मजदूरों पर हमले तेज किये

(बिगुल प्रतिनिधि)

जब भी मजदूर आन्दोलन पराजित होता है, दो कदम पीछे हटता है, पूंजीपतियों का दमन और तेज हो जाता है। वे मजदूरों के शोषण-उत्पीड़न के नये-नये हथियार ईजाद करते हैं। वे ज्यादा से ज्यादा बेखौफ हो जाते हैं। मजदूर एकता को तोड़ने, उन्हें बंधुआ बना डालने की कोशिशों में वे अपनी पूरी ताकत लगा देते हैं।

अभी 'खटीमा फाइबर्स', 'रामा विजन', 'सेंचुरी पल्प एण्ड पेपर', 'आनन्द निशिकावा' (ए.एल.पी.) जैसे कारखानों के मजदूरों ने अपने लम्बे जुझारू संघर्षो के बाद मोर्चे से दो कदम पीछे हटाये हैं। उधर तीस साल से अपने कारखाने में यूनियन बनने और मजदूर एकता के सारे प्रयासों को कुचल देने के लिए कुख्यात 'शिवा पेपर' कारखाने के प्रबन्धकों ने यूनियन बनने के एक और प्रयास को कुचलते हुए, नेतृत्वकारी आठ साथियों को निष्कासित कर दिया।

यह सच है कि ऊधमसिंहनगर के इस तराई क्षेत्र के कुछ कारखानों में चले मजदूर आन्दोलनों को वक्ती तौर पर पराजय का सामना करना पड़ा ('बिगुल' जून-जुलाई,1999 अंक में 'कुछ जरूरी नतीजे कुछ कीमती सबक' में इनका सुसंगत विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है) अपने लम्बे जुझारू आन्दोलनों के बाद मजदूर साथी अभी दम भी नहीं ले पाये थे कि इन कारखानों के मालिकों ने बारीक मार शुरू कर दी, उन्होने मनो-वैज्ञानिक युद्ध छेड़ दिया। इसका प्रतिरोध कम या लगभग नहीं होने की स्थिति में उसके तेवर और भी आक्रामक होते गये। पूजीपतियों के ऐसे ही कुत्सित कार्यों की बानगी मि यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।

एक कारखाने की एक शाप से एक वर्नियर गायब हो गया (अथवा गायब करवाया गया?)। प्रबन्धकों ने तत्परता दिखाई! शाप के सभी मजदूरों को एकत्रित किया गया और उन्हें एक पीर बाबा द्वारा दिये गये विशेष किस्म का जादुई चावल खाने के लिए दिया गया। कहा यह गया कि जो चोर होगा चावल उसके मुंह से गिर जाएगा (क्या नायाब तरीका ढूंढा गया! क्या भारतीय न्यायालय इसे बतौर सबूत स्वीकार करेगी!)। चावल ऐसा कि मुंह में डालते ही चिपकने लगता और जरा भी मुंह खुलते गिरने लगता। बगैर किसी प्रतिरोध के, किंकर्तव्यविमूढ़ मजदूरों ने इसे खाया। कईयों ने किसी तरह उसे निगल लिया, कुछ के मुंह से गिरा भी। कुछ साथियों की तबियत तक खराब हो गयी, लेकिन भयवश वे कुछ कह भी न सके। मजदूरों में संदेह का बीज डालकर प्रबन्धक वहां से चलते बने। इसी के साथ, कारखाने में अंधविश्वास फैलाने का भी घटिया प्रयास किया गया, ताकि मजदूरों को अतर्कपरक बनाया जा सके, उनकी चेतना को पीछे ढकेला जा सके।

कारखानों में आन्दोलन समाप्ति के तत्काल बाद एक अन्य शाप के सभी मजदूरों को एक प्रबन्धक ने एकत्रित किया और स्थायी तथा अस्थायी मजदूरों को अलग-अलग करके स्थायी को तो कुर्सी पर बिठाया जबकि अस्थायी (डेलीवेज) को जमीन पर। मजदूरों को बुरा तो लगा, लेकिन वे जड़वत बैठ गये। मैनेजमेन्ट उन्हें बांटने की अपनी योजना की कामयाबी पर मन ही मन मुस्कुराता रहा (हालांकि स्थायी मजदूर साथी थोड़ा विवेक से सोचते तो वे भी कुर्सी के बगल में ही जमीन पर बैठ जाते)।

फिर तो ऐसी घटनाओं का तांता लग गया। लम्बे संघर्षों से अर्जित अधिकारों पर खुलेआम डकैती पड़ने लगी। यूनियन यह सोचती रही कि मालिकान द्वारा जब तक आन्दोलन के दौरान थोपे गये मुकदमे न उठा लिये जाएं और निलम्बित साथी बहाल न हो जाएं, तब तक खामोश रहो! यहीं वे चूक गये। वे भूल गये कि यही तो मालिकों के नायाब हथियार हैं। बगैर संगठित विरोध और दबाव के मालिकान न तो मुकदमे वापस लेंगे और न ही निलम्बित साथियों की बहाली होगी। वे तो लगातार मजदूरों जुझारूपन और एकता को तौल रहे है।

बहरहाल, हुआ यह कि स्थिति बद से बदतर होती चली गयी। प्रबन्धकों ने जब चाहा कारखाने में उत्पादन ठप्पा कर दिया, मजदूरों को अवकाश दे दिया गया—कभी कच्चे माल की अनुपलब्धता का रोना तो कभी जनरेटर ठीक करने का बहाना—और फिर इसके एवज में साप्ताहिक अवकाशों में भी काम करवाने का सिलसिला चल पड़ा। तब मजदूरों के बीच यह सवाल उठना लाजिमी है कि कच्चे माल की अनुपलब्धता का खामियाजा आखिर मजदूर क्यों भुगते? महीने में मिलने वाले दो-दो घण्टे के दो 'शार्टलीव' को एक-एक घण्टे में तब्दील कर दिया गया। हालत यहां तक पहुंच गयी कि रात्रिपाली में कार्यरत एक मजदूर को (सोने के आरोप में ?) एक प्रबन्धक ने थप्पड़ मार दिया। अगले दिन मजदूरों के प्रतिरोध पर प्रबन्धक इस घटना से ही मुकर गया। ऐसे ही एक मजदूर को एक अधिकारी द्वारा मुर्गा बनाने और बांग दिलवाने की घटना प्रकाश में आयी जिसे उक्त अधिकारी ने महज मजाक बताकर कन्नी काट ली (तो फिर क्या मजदूर भी ऐसा ही मजाक करें!)।

एक अन्य कारखाने में (यहां भी, आन्दोलन समाप्ति के बाद से ही अपरोक्ष रूप से दमनात्मक कार्रवाइयां जारी हैं, जहां धीरे-धीरे काम के आठ घण्टे को पुन: बारह घण्टों में तबदील कर दिया गया) भी अचानक उत्पादन ठप्प करके कारखाना मजदूरों से घास कटवाने और झाड़ू-बुहारू का काम लिया गया।

महज ये चन्द उदाहरण ही इस बात को एक बार फिर प्रमाणित करते हैं कि पूंजीपति अपने काम में लगातार लगा रहता है। वह कोई भी मौका चूकता नहीं हैं। मजदूर जैसे ही दम लेते हैं, थोड़ा निश्चिन्त होते हैं, वह अपनी जकड़बन्दी और तेज कर देता है। इससे भी हमें यही सबक मिलता है कि जब तक पूंजीवादी लूट जिन्दा है, लड़ाई लगातार जारी है—कभी कारखाने के भीतर तो कभी सड़कों पर, कभी धीमी तो कभी तेज। पूंजीपतियों का यदि बस चले तो वह मजदूरों की हड्डियां पीसकर बाजार में बेच दे, खून निचोड़कर टकसाल में ढाल लें।

और इस मामले में सारे पूंजीवादी लुटेरे एक हैं। शासन-प्रशासन पुलिस-फौज-कानून सब उसकी सहायता के लिये, सुरक्षा के लिये तैयार रहते हैं। उन्होंने कारखानों में बड़े पैमाने पर ठेका प्रथा लागू कर रखी है जिनसे मामूली दिहाड़ी पर 14-14, 16-16 घण्टे काम लिया जा रहा है। नौकरी के स्थायित्व के लालच में लगे मजदूरों को ब्लैकमेल किया जा रहा है। हक की बात करने वालों को "विद्रोही", "आतंकवादी", "अशान्ति फैलाने वाले" आदि कहा जाता है। और बात-बात में शुरू हो जाता है प्रशासन के "कानून" का इस्तेमाल। मजदूर अपने आन्दोलनों से सबक निकालें य नहीं, लेकिन पूंजीपति, किसी भी कारखाने के छोटे-बड़े हर आन्दोलन से सबक जरूर निकालता है, ताकि वह लूट और दमन की नयी रणनीति बना सके। वह अपने "चैम्बर" बनाता है। एक-दूसरे के कारखानों में "अशान्ति" पर बयान देता है। इस मुद्दे पर बड़े 'फार्म हाउसों' के मालिक भी उनका साथ देते हैं, उनके पक्ष में अखबारों में बयान देते है। ये उनकी वर्ग पक्षधरता है। आखिर उन्हें भी तो फार्म मजदूरों का खून निचोड़ना है।

यही वह बिन्दु है जहां हमें सोचना है कि अगर एक कारखाने के मालिक के पक्ष में अन्य कारखाने के मालिको की एकजुटता प्रदर्शित होती है तो अलग-अलग कारखाने के मजदूर क्यों न एकजुट हों! अगर फार्मरों का बयान कारखानेदारों के पक्ष में आता है तो फार्म मजदूर कारखाना मजदूरों के पक्ष में क्यों न हों? इस मुद्दे पर, हमें भी, अपने विरोधियों से सीखना चाहिए।

आज परिस्थितियां जटिल हो चुकी हैं। पूरे देश-दुनिया की आबो-हवा मजदूर आन्दोलन के खिलाफ बह रही है। लेकिन यह तो आज का सच है। इतिहास इस बात का गवाह है कि हर अंधेरे के बाद सुबह की रोशनी फूटती है। जो मजदूर सही सोच और क्रान्तिकारी विकल्प के अभाव में हार की मानसिकता में जीने लगता है, निराशा और निष्क्रियता के अंधेरे रसालत में चला जाता है, वही मजदूर उम्मीद जगने पर, अपनी थकी-हारी मानसिकता को छोड़कर पूंजीवादी व्यवस्था का क्रिया-कर्म करके ही दम लेता है। ●

श्रीराम होण्डा के मजदूर आन्दोलन की राह पर

(पेज 1 से आगे)

क्रम और प्रबन्धकों के अड़ियलपन ने मजदूरों को 4 घण्टे का टूल डाउन करने को बाध्य कर दिया। परिस्थितियां, उन्हें बेमियादी हड़ताल के लिये बाध्य कर रही हैं।

दरअसल,तराई के पैमाने पर पिछले दिनों चले कई कारखानों के मजदूर आन्दोलनों की आंशिक अथवा पूरी पराजय ने पूरे इलाके के पूंजीपतियों-प्रबन्धकों का मनोबल काफी बढ़ा दिया है। वक्ती तौर पर पूरे देश की आबोहवा भी पूंजीपतियों के पक्ष में है। मौजूदा हालात ने उनकी धृष्टता को और बढ़ाया है। दूसरे,जनरेटर बनाने वाले इस जापानी कारखाने के मजदूरों में जर्बदस्त एका कायम है। साथ ही,इलाके के किसी भी कारखाने के मजदूर आन्दोलन में इनकी सक्रिय भागीदारी रही है। यह मालिक लोगों की आंख में सदैव खटकता रहा है। तभी तो,पूरे तराई के कारखाने जुझारु 'श्री राम होण्डा श्रमिक संगठन' को तोड़ने और मजदूर एकता को कुचलने के लिए पूरी तरह कमर कसे हुए नजर आ रहे हैं। इलाके के सभी पूंजीपति इसके लिये रणनीति बनाने में लगे हुए हैं। वास्तव में होण्डा प्रबन्धतन्त्र के लिये वेतनबृद्धि उतना महत्वपूर्ण नहीं है,जितना संगठन तोड़ना।

ऐसे हालात में जहां एक तरफ यूनियन को ज्यादा सूझ-बूझ भरे कदम उठाने होंगे,वहीं पूरे इलाके के मजदूरों को भी अपनी एकजुटता कायम करते हुए पूंजीपतियों के नापाक मंशूबों को कुचलने के लिए नयी तैयारियों में जुट जाना होगा।

पूर्वोत्तर रेलवे मुख्यालय में आर.पी.एफ जवानों का नंगनाच

(पेज 1 से आगे)

इस अकारण लाठीचार्ज से गुस्साये कर्मचारी दूसरे दिन 10 सितम्बर को महाप्रबन्धक कार्यालय के सामने लाठी-चार्ज के लिये जिम्मेदार आर.पी. एफ.अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई की मांग को लेकर धरने पर बैठ गये। अचानक रेल प्रशासन की शह पर आर. पी.एफ.के रंगरूट व असलहों से लैस जवान भारी संख्या में जी.एम. आफिस पहुंचे और धरना दे रहे कर्मचारियों को दौड़ा-दौड़ा कर पीटा गया, उन्हें आतंकित करने के लिए से हवा में अंधाधुंध 20 चक्र गोलियां दागी गईं।

आर.पी.एफ जवानों के इस नंगनाच में छ:-सात कर्मचारी बुरी तरह घायल हुए। जिनमें से दो की हालत बेहद गंभीर है और पी.जी.आई लखनऊ में भर्ती हैं। लेकिन, रेल प्रशासन ने कर्मचारियों के आक्रोश पर पानी के छीटें मारने के लिए यहां दो जवानों को निलम्बित कर और विभागीय जांच बैठा कर कार्रवाई की खानापूरी कर ली,जो रेल प्रशासन के मंसूबों को भी एकदम साफ कर देता है।

दरअसल, रेल प्रशासन-रेल कर्मियों पर आतंक कायम कर रेल विभाग में परोक्ष रूप से धीरे-धीरे लागू हो रही उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों और दिनों-दिन बढ़ती निरंकुशता के खिलाफ उठने वाली हर आवाज को कुचल देना चाहता है। रेल प्रशासन इस बात को बखूबी जानता है कि छंटनी-तालाबंदी की इन्हीं नीतियों का आने वाले दिनों में खुले रूप से और तेज गति से रेलवे के भीतर लागू करना है। वह यह भी जानता है कि इसे डण्डे के दम पर ही लागू किया जा सकता है। यह घटना महज संयोगवश नहीं घटित हुई है बल्कि यह डाला-चुर्क-चुनार, व अपट्रान के मजदूरों-कर्मचारियों के दमन की अगली कड़ी है। रेलवे के भीतर भी यह कोई अपवाद नहीं बल्कि विगत कई माह से जारी दमन व आतंक का ही हिस्सा है। समस्तीपुर के लोको रनिंग स्टाफ को मास ट्रान्सफर व कई कर्मचारियों का ब्रेक इन सर्विस करना, सी.पी.ओ. आफिस के सामने धरने पर बैठे मजदूरों, कर्मचारियों, को इन्हीं सुरक्षा बलों के दम पर हटवा देना, महाप्रबन्धक कार्यालय पर प्रदर्शन करने आये अंधे व्यक्तियों पर आर.पी. एफ. द्वारा लाठी चलवाने जैसी घटनाएं बढ़ती जा रही हैं। गोरखपुर की घटना के कुछ ही दिन पहले नियमितीकरण की मांग को लेकर रेलवे निर्माण विभाग पर धरनारत आकस्मिक मजदूरों पर भी रेल प्रशासन ने आर.पी.एफ. से लाठियां चलवा कर जेल में ठूंस दिया था। ये सारी घटनायें रेलवे नौकरशाही व इस निरंकुश हो चुकी व्यवस्था के 'वास्तविक मंसूबों व भविष्य की तैयारियों' का बयान खुद ब खुद कर रही हैं।

लेकिन, दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि इन घटनाओं का कोई एकजुट विरोध न हो सका। यूनियनें बयानबाजी कर चुप लगा गयीं। इसी तरह इस बार भी कर्मचारियों के आक्रोश को संगठित कर किसी लम्बे संघर्ष की तैयारी का रूप देना सम्भव नहीं लग रहा है। यूनियनें इतनी नपुंसक हो गयी हैं कि इस घटना के बाद भी वे सिर्फ 'औद्योगिक शान्ति व सुरक्षा' बहाल करने की चिन्ताएं प्रकट कर रही हैं।

शुरू के दो-तीन दिन तक यह आन्दोलन नेतृत्व विहीन रहा। धन्धेबाज ट्रेड यूनियन नेताओं के खिलाफ कर्मचारियों का गुस्सा उबलता रहा। परन्तु बाद में लेखा विभाग के आम कर्मचारियों ने पहलकदमी की और संघर्ष समिति बनाकर इस संघर्ष को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। लेकिन यह संघर्ष लेखा विभाग के मुख्यालय व शाखाओं तक ही सीमित रह गया, ट्रेड व कैटेगरी के बंटवारे की दीवार को तोड़कर इसे व्यापक आन्दोलन की शक्ल नहीं दी जा सकी।

गद्दार ट्रेड यूनियन नेताओं की रस्मी बयानबाजी से अलग सिर्फ रेल के कारखानों के मजदूरों की दो साल पुरानी यूनियन **'इण्डियन रेलवे टेक्निकल एण्ड आर्टिजन इम्पलाइज एसोसिएशन'** ने यांत्रिक कारखाना गेट पर 'विरोध-सभा' कर रेल प्रशासन की बढ़ती निरंकुशता के विरोध में लम्बे संघर्ष की रणनीति बनाने और सभी ट्रेड एवं कैटेगरी के मजदूरों, कर्मचारियों की व्यापक एकजुटता का आह्वान किया। इसके साथ ही, **'रेल मजदूर अधिकार मोर्चा'** ने [redacted] निर्भरता छोड़कर संघर्ष की कमान अपने हाथ में लेने का आह्वन किया।

लेकिन,फिलहाल ये आवाजें ठहराव व थकी-हारी दुनियादारी की मानसिकता में अनसुनी सी बन रह जा रही हैं। भविष्य में यह चीज अगर आगे बढ़ती है तो बात आगे बढ़ सकती है। देर-सवेर होना यही है। हालात भी इसी ओर धकेल रहे हैं और एकमात्र रास्ता भी यही है।

सत्ता की निरंकुशता का शिकंजा पूरे समाज में कसता जा रहा है। रेल कर्मचारी, मजदूर, छात्र, महिलाएं कोई भी इससे बचा हुआ नहीं है। इसका कारगर जवाब आम मेहनतकश मजदूरों-कर्मचारियों को देना होगा लेकिन इस लक्ष्य को गद्दार ट्रेडयूनियन नेताओं के पीछे चलकर नहीं बल्कि उन्हें उखाड़कर फेंक देना होगा। इसके लिए आम मजदूरों-कर्मचारियों को स्वयं पहलकदमी करके आगे आना होगा और मेहनतकश जनता के व्यापक मुक्ति के लक्ष्य को सामने रखकर जुझारू ट्रेड यूनियन आन्दोलन खड़ा करना होगा। ●

प्रिय पाठको,

'नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' के पंजीकरण की प्रक्रिया में एक तकनीकी त्रुटि को ठीक करने के लिए 'वर्ष 1 अंक 2, फरवरी 1999' को 'वर्ष 1 अंक 1' माना जाएगा। इसी क्रम को दुरुस्त करने के लिए बिगुल के इस अंक को भी 'वर्ष 1 अंक 8' माना जाएगा। (पिछले अगस्त, 1999 अंक पर भी 'वर्ष 1 अंक 8' मुद्रित था।) पाठकों को हुई असुविधा के लिये हमें खेद है। —सम्पादक

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं वानी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ।
संपादक : डा. दूधनाथ। सम्पादकीय पता : द्वारा ओ0पी0 सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 006. सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ।